वैद्यक, नीति, शिल्पशास्त्र, साहित्य आदि विषयों के भी सैकड़ों ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से जैन साहित्य के अनुपम रत्नों की जगमगाहट समस्त साहित्यिक जगत् को चमत्कृत किये बिना न रहेगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि ये कन्नड़ भाषा के ग्रन्थरत्न हिन्दी में अनूदित होकर जनता के समक्ष रखे जायँ ?

वर्षों से मेरा तथा मेरे दो-चार मित्रों का विचार था कि लोक भाषाओं में लिखित दिगम्बर साहित्य को हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया जाय। परन्तु समुचित सहयोग न मिलने से मेरा और मेरे साथियों का उक्त विचार पूरा न हो सका। सौभाग्य से श्री सम्मेद शिखर की यात्रा करते हुए गत मई मास में श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज ससंघ यहाँ पधारे। आप कन्नड़ भाषा के अच्छे विद्वान् हैं तथा साहित्य से आपको विशेष अभिरुचि है। यहाँ के श्री जैन-सिद्धान्त-भवन के विशाल संग्रह का आपने अवलोकन किया तथा श्री पं० नेमिचन्द्र शास्त्री से परामर्श कर धर्मामृत एवं रत्नाकर शतक का हिन्दी अनुवाद करने का विचार स्थिर किया।

दोनों ग्रन्थों का अनुवाद कार्य पूर्ण हो गया है तथा इनका प्रकाशन किया जा रहा है। प्रकाशन व्यवस्था के लिये मुनि संघ के आहार दान के समय उदार दानी श्रावकों ने दान में जो रकम

दी तथा ग्रन्थ प्रकाशन के निमित्त जो रकम मिली है उसीसे इस ग्रन्थ-माला का कार्य प्रारम्भ किया गया है। हम लोगों ने आचार्य महाराज के नाम पर उनकी स्मृति सर्वदा कायम रखने के लिये इस-ग्रन्थ माला का नाम 'श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला' रखा है। तथा इस ग्रन्थमाला के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये 'श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा' की स्थापना की है।

इस ग्रन्थमाला का सर्व प्रथम ग्रन्थ रत्नाकर शतक है, जिसका प्रथम भाग हम पाठकों के समक्ष रख रहे हैं। यह ग्रन्थ चार भागों में प्रकाशित होगा। इसके प्रकाशन का पूरा व्यय श्रीमती चम्पामणि देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमान् बाबू भानुकुमार चन्द जी ने प्रदान किया है, जिसके लिये हम ग्रन्थमाला की ओर से इस दान की प्रेरणा करनेवाले श्रीमान् बा० नरेन्द्रकुमार जी जैन मैनेजर बैंक ऑफ बिहार तथा दान कर्त्री श्रीमती चम्पामणि देवी को धन्यवाद प्रदान करते हैं। आशा है आप आगे भी जैन साहित्य के सम्बर्द्धन के लिये ऐसी ही उदारता दिखलायेंगी।

हम इस सम्बन्ध में विशेष न लिख कर इतना ही और कह देना चाहते हैं कि दि० समाज में श्रीमान् और धीमानों की कमी नहीं। यदि इन दोनों का सहयोग हमें मिलता रहा तो हम अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होंगे। स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा का ध्येय केवल दिगम्बर जैन आम्नाय के प्राचीन ग्रन्थों का हिन्दी अनु-

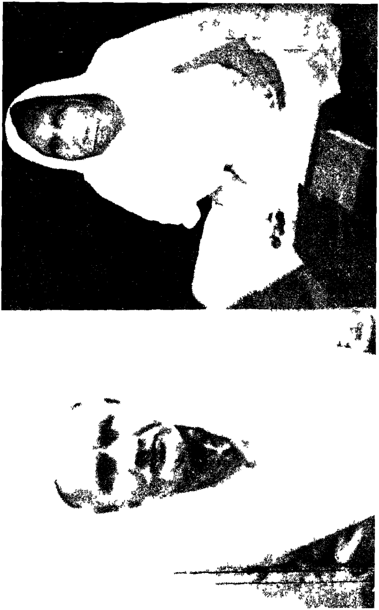
बाद प्रकाशित करना तथा युग के अनुसार इस आम्नाय के अनुकूल नवीन साहित्य का प्रकाशन करना है। हमें विश्वास है कि यदि पूज्य आचार्य महाराज का आशीर्वाद मिलता रहा तो इस प्रकाशन मन्दिर से प्रति वर्ष दो-चार ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित होते रहेंगे।

जैनेन्द्र भवन
२५ दिसम्बर १९४९

जिनवाणी-भक्तः—
देवेन्द्रकिशोर जैन
मंत्री
श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला, आरा



श्री नरेन्द्र कुमार जैन, तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती
प्रेमलता कुमारी जैन एवं उनकी सुपुत्री
शान्ति कुमारी जैन



इस ग्रन्थ के प्रकाशन-व्ययदाताओं का परिचय

[illegible]

स्व० श्रीमान् बाबू भानुकुमारचन्द

तथा

धर्मपत्नी श्रीमती [illegible] देवी

[illegible]

इस ग्रन्थ के प्रकाशन-व्ययदात्री का परिचय

आज से कुछ समय पूर्व आरा नगरी में श्रीमान् बा० विष्णुचन्द जी नामक एक धार्मिक एवं उदार धनी-मानी श्रावक रहते थे। आप को एक लड़की के सिवा और कोई सन्तान नहीं थी। आपका विचार एक धार्मिक ट्रष्ट करने का था पर अचानक मृत्यु के कारण आप ऐसा न कर सके। आप की बहन श्रीमती मैनासुन्दर भी बड़ी धार्मिक प्रकृति की देवी थी। इन्होंने अपने जीवन में आरा में एक धर्मशाला और एक मन्दिर बनाने के लिये अपनी सारी चल और अचल सम्पत्ति का ट्रष्ट बनाकर अपने पूज्य भ्राता *श्रीमान् बा० विष्णुचन्द जी को मुतवली बनाया।*

श्रीमान् बा० विष्णुचन्द के मरने के उपरान्त आपकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी आपकी धर्मपत्नी श्रीमती लालमनी बीबी हुई। आपने भी शक्ति अनुसार दान-पुण्य किया। आपका मृत्यु के पश्चात् सब सम्पत्ति आपकी सुपुत्री श्रीमती चम्पामनी बाबी और दामाद श्रीमान ब० भानुकुमार चन्द जी को मिली। श्रीमान बा० भानुकुमार जी ने अपने जीवन में स्वर्गीय मैनासुन्दर का मन्दिर बनाकर अपने रुपयों से उसकी प्रतिष्ठा कराई तथा मैनासुन्दर धर्मशाला (मैनासुन्दर भवन) आरा भी आपके समय में ही तैयार हुई। इन सब धर्म कार्यों का श्रेय श्रीमान बा० भानुकुमार

चन्द जी को है। आप की मृत्यु भी अचानक हुई इस कारण अन्यान्य धर्म कार्य जो आप चाहते थे, नहीं कर सके।

श्रीमती चम्पामनी बीबी धार्मिक और उदार प्रकृति की है। आपने पावापुरी धर्मशाला में कमरा बनाने के लिये तीन हजार रुपयों का दान किया है। आपने रत्नाकर शतक के मुद्रण का पूरा खर्च देना स्वीकार किया है। श्रीमान बा० नरेन्द्रकुमार जैन मैनेजर विहार बैंक बा० भानुकुमार जी के एकमात्र भतीजे हैं और इस समय सारा कारोबार आपके देख-भाल में है, आप लगन के व्यक्ति हैं आपके हृदय में जैन साहित्य के प्रकाशन की प्रबल आकांक्षा है। आप उक्त माताजी को सर्वदा सुयोग धर्म-कार्यों में दान देने की प्रेरणा करते रहते हैं। आप निरंतर यही कहते रहते हैं कि जैसे हो सके जैन धर्म और जैन साहित्य का प्रचार एवं प्रसार हो। श्री वीरप्रभु की भक्ति एवं श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज का आशीर्वाद आपकी भावना को सबल बनायेंगे।

प्रस्तावना

संसार के सभी प्राणी अहर्निश सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। सुख के प्रधान साधन धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन कर मनुष्य सुखी हो सकता है। पर आज भौतिकवाद के युग में धर्म पुरुषार्थ की अवहेलना कर मानव केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ के अबाध सेवन द्वारा सुखी होने का स्वप्न देख रहा है। निर्धन धन के लिये छटपटाते हैं तो धनवान सोनेका महल बनाना चाहते हैं, वे रात-दिन धन की तृष्णा में डूबे हुए हैं। करोड़ों और अरबों भूख, दरिद्रता, रोग और उत्पीड़न-चक्र में नियमितरूप से पिसकर नष्ट हो रहे हैं। एक ओर कुछ लोग अपनी वासनाओं को उद्दाम एवं असंयत बनाते जा रहे हैं तो दूसरी ओर फूल सी सुकुमार देवियाँ नारकीय जीवन व्यतीत कर रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी तृष्णा और अभिलाषा को उत्तरोत्तर बढ़ाता जा रहा है। आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रहीं हैं और आवश्यकताओं के अनुसार ही संचय-वृत्ति अनियन्त्रित होती जा रही है। इस प्रकार कोई अभाव जन्य दुःख से दुःखी है तो कोई तृष्णा के कारण कराह रहा है। एक संसार में सन्तान के अभाव से दुःखी होकर रोता है, तो दूसरा कुसन्तान

की बुराईओं से त्रस्त होकर; इस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थ का एकांगी सेवन सुख के स्थान में दुःखदायक हो रहा है।

मनुष्य को वास्तविक शान्ति धर्म पुरुषार्थ के सेवन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अर्थ और काम पुरुषार्थ आंशिक सुख दे सकते हैं, पर वास्तविक सुख धर्म के धारण करने पर ही मिल सकता है। जैनाचार्यों ने वास्तविक धर्म आत्मधर्म को ही बताया है। इस आत्मा को संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न अनुभव कर विवेक प्राप्त करना तथा आत्मा में ही विचरण करना धर्म है। इसी धर्म के द्वारा शान्ति और सुख मिल सकता है। जैन साहित्य में आध्यात्मिक विषयों को निरूपण करनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं। समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्म प्रकाश, समाधितन्त्र, आत्मानुशासन, इष्टोपदेश आदि आर्ष ग्रन्थों में आत्मतत्त्व का स्वरूप, संसार के पदार्थों से भिन्नता एवं उसकी प्राप्ति की साधन प्रक्रिया विस्तार पूर्वक बतायी है। कन्नड़ भाषा में भी आत्मतत्त्व के ऊपर कई ग्रन्थ हैं।

कविवर बन्धुवर्मा और रत्नाकर वर्णी जैसे प्रमुख आध्यात्मप्रेमियों ने कन्नड़ भाषा में अध्यात्म विषयक अनेक रचनाएँ लिखी हैं। यों तो प्राचीन कन्नड़ साहित्य को उच्च एवं प्रौढ़ बनाने का सारा श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्यों ने कन्नड़ भाषा का उद्धार और प्रसार ही नहीं किया है, बल्कि पुराण, दर्शन,

आध्यात्म, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, गणित प्रभृति विषयों का शृंखलाबद्ध प्रतिपादन कर जैन साहित्य के भण्डार को भरा है। दिगम्बर जैन साहित्य का अधिकांश श्रेष्ठ साहित्य कन्नड़ भाषा में है। पम्प, रन्न, पोन्न, जन्न, नागचन्द्र, कर्णपार्य, अग्गल, आचण्ण, बन्धुवर्मा, पार्श्वपंडित, नयसेन, मङ्गरस, भास्कर, पद्मनाभ, चन्द्रम, श्रीधर, साल्व, अभिनवचन्द्र आदि कवि और आचार्यों ने अनेक अमूल्य रचनाओं द्वारा जैन साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया है। देशी भाषाओं में सबसे अधिक जैन साहित्य कन्नड़ भाषा में ही उपलब्ध है। यदि इस भाषा के अमूल्य ग्रन्थ-रत्न अनूदित कर हिन्दी भाषा में रखे जायें तो जैन साहित्य के अनेक गुप्त रहस्य साहित्य प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकर शतक एक आध्यात्मिक रचना है। कवि रत्नाकरवर्णी ने कन्नड़ भाषा में तीन शतकों का निर्माण किया है—रत्नाकराधीश्वर शतक, अपराजित शतक और त्रैलोकेश्वर शतक। इन तीनों शतकों का नाम कवि के नाम पर रत्नाकर शतक रखा गया है।

पहले रत्नाकराधीश्वर शतक में वैराग्य, नीति और आत्म तत्त्व का निरूपण है। दूसरे अपराजित शतक में अध्यात्म और वेदान्त का विस्तार सहित प्रतिपादन किया गया है। तीसरे त्रैलोक्येश्वर

शतक में भोग और त्रैलोक्य का आकार-प्रकार, लोक की लम्बाई चौड़ाई आदि का कथन किया गया है। प्रत्येक शतक में एक-सौ अट्ठाईस पद्य हैं।

रत्नाकराधीश्वर शतक का विषय निरूपण

इस शतक में १२८ पद्य हैं; जिनमें से प्रथम भाग में केवल ५० पद्य ही दिये जा रहे हैं। यों तो इस समस्त ग्रन्थ में आत्म तत्त्व और वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है, पर यहाँ पर इस प्रथम भाग में आये हुए पद्यों का संक्षिप्त सार ही दिया जायेगा। यह ग्रन्थ आत्म-तत्त्व के रसिकों के लिये अत्यन्त उपादेय होगा, कोई भी साधक इसके अध्ययन द्वारा आत्मोत्थान की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।

प्रथम पद्य में वस्त्राभरणों द्वारा शरीर को अलंकृत करने की निस्सारता का निरूपण करते हुए रत्नत्रय के धारण करने पर जोर दिया है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि सुन्दर, सुगन्धित वस्तुएँ इसके स्पर्शमात्र से अपवित्रित हो जाती हैं। अतः वस्त्राभूषण इसके अलंकार नहीं; किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही इसे सुशोभित कर सकते हैं। ये ही आत्मा के सच्चे कल्याणकारी अलंकार हैं। दूसरे पद्य में रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के स्वरूप का कथन किया है।

"ज्ञान, दर्शन, मय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं—मुझ से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं" पर विशेष जोर दिया गया है।

तीसरे पद्य में सात तत्त्व, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का स्वरूप विस्तार सहित बताया गया है। चौथे पद्य में बताया है कि आत्मा की स्थिति को ज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर इन चर्म चक्षुओं को गोचर है, उस प्रकार आत्मा गोचर नहीं है। स्थूल के पीछे सूक्ष्म इस प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पत्थर में सोना, पुष्प में पराग, दूध में सुगन्ध तथा घी और लकड़ी में आग। शरीर के अन्दर आत्मा की स्थिति को इस प्रकार जानकर अभ्यास करने से आत्मा की प्रतीति होने लगती है। पाँचवें पद्य में बताया है कि आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का धारी होने पर भी कर्मों के बन्धन के कारण इस शरीर में निवास कर रहा है, इसकी अनुभूति भेद विज्ञान द्वारा की जा सकती है। छटवें पद्य में बताया है कि जैसे कनकोपल के शोधने पर सोना, दूध के मथने पर नवनीत और लकड़ी के घर्षण करने पर अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार 'शरीर अलग है और मैं अलग हूँ' इस भेदविज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। सातवें पद्य में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा की शक्ति का धारी तथा समस्त शरीर

में आत्मा का अधिष्ठान बताया है । आठवें में बताया है कि यह आत्मा कभी धूप से निस्तेज नहीं होता, पानी से गलता नहीं, तलवार से कटता नहीं, इसमें भूख-प्यास आदि बाधाएँ भी नहीं हैं । यह बिल्कुल शुद्ध, शान्त, सुखस्वरूप, चैतन्य, ज्ञाता, द्रष्टा है ।

नौवें पद्य में बताया है कि अनादिकालीन कर्म सन्तान के कारण इस आत्मा को यह शरीर प्राप्त हुआ है । शरीर में इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है, विषय ग्रहण से नवीन कर्म बन्धन होता है, इस प्रकार यह कर्म परम्परा चली आती है । इसका नाश आत्मा के पृथक्त्व चिन्तन द्वारा किया जा सकता है । दसवें पद्य में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का कथन करते हुए उन दोनों के भिन्नत्व को बताया है । ग्यारहवें पद्य में बताया है कि भोग और कषायों के कारण यह आत्मा विकृत और कर्मरूपी धूल को ग्रहण कर भारी होता जा रहा है । स्वभावतः यह शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक है, पर वैभाविक शक्ति के परिणमन के कारण योग-कषाय रूप प्रवृत्त होती है, जिससे द्रव्यकर्म और भाव कर्मों का संचय होता जाता है ।

बारहवें पद्य में भेदविज्ञान की दृष्टि को स्पष्ट किया है । तेरहवें पद्य में शरीर, धन, कुटुम्ब आदि की क्षणभंगुरता को बतलाते हुए इन पदार्थों से मोह को दूर करने पर जोर दिया है । चौदहवें पद्य में बताया है कि यह मनुष्य शरीर नाशवान है, इसे प्राप्त कर

आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण के लिये अवसर की तलाश में रहता है, उसे कभी भी मौका नहीं मिलता, वह असमय में ही इस संसार को छोड़कर चल देता है। अतः आत्मकल्याण जितनी जल्दी हो सके, करना चाहिये। पन्द्रहवें पद्य में नाना जन्म-मरणों का कथन करते हुए उनके सम्बन्धों की निस्सारता का कथन किया है। सोलहवें पद्य में बताया है कि जिस व्यक्ति ने कभी दान नहीं दिया, जिसने कभी तपस्या नहीं की, जिसने समाधिमरण नहीं किया उसके मरने पर सम्बन्धियों को शोक करना उचित है, क्योंकि उसका जन्म ऐसे ही बीत गया। आत्मकल्याण करनेवाले व्यक्ति का जीवन सार्थक है, उसके मरने पर शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को पूरा कर गया है। सत्रहवें पद्य में मृत्यु की अनिवार्यता का कथन करते हुए पुनर्जन्म पर जोर दिया है।

अठारहवें पद्य में पंचपरमेष्ठी के चिन्तन और स्मरण की आवश्यकता बतायी गयी है। उन्नीसवें में संसार के पदार्थों की आत्मा से भिन्नता बताते हुए आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिये विशेष जोर दिया है। बीसवें पद्य में धन,वैभव आदि की निस्सा-रता बतलाते हुए रत्नत्रय की उपलब्धि को ही कल्याणकारी बताया है। इक्कीसवें पद्य में बताया है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय में अनादिकाल से चक्कर खाता हुआ यह जीव नाशवान

शरीर के ऊपर प्रेम रखकर शाश्वत आत्मस्वरूप को भूल गया है, जिससे यह अपने इस दुर्लभ नरभव को यों ही बिताना चाहता है। इन्द्रियाँ और मन को आधीन कर विषयों की प्रवृत्ति को रोकने में ही नरभव प्राप्ति की सार्थकता है। बाईसवें पद्य में आवागमन के चक्र का कथन करते हुए प्रभुभक्ति करने के लिये संकेत किया है। तेईसवें पद्य में बताया है कि यह जीव अनेक प्रकार के प्राणियों की कुक्षि से जन्म लेकर आया है। नाना प्रकार के आकार और वेष धारण किये हैं, शरीर के लिये नाना कार्य किये हैं। आहारादि करते करते अनेक जन्म बिता दिये हैं, तो भी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। अतएव भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करना, उनके गुणों में तल्लीन होना कर्मबन्ध को छेदने का सुगम मार्ग है। चौबीसवें पद्य में इस शरीर की अशुद्धता का कथन करते हुए आत्मकल्याण के लिये जोर दिया है। पच्चीसवें में क्षणिक वैराग्य का दिग्दर्शन कराते हुए स्थायी वैराग्य प्राप्त करने के लिये संसार-स्वरूप का निरूपण किया है। छब्बीसवें पद्य में बताया है कि विपत्ति या संकट के आने पर हाय-हाय करना ठीक नहीं, इससे आगे के लिये अशुभ कर्मों का आस्रव ही होता है। अतः संकट के समय पंचपरमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करना चाहिये।

सत्ताईसवें में मृत्यु के समय मोह त्याग करने के लिये कहा

है। मरण-समय परिणामों में समता रहने से आत्मा का अधिक कल्याण हो सकता है। अतः समाधिमरण करना जीव का एक आवश्यक कर्त्तव्य है। अट्ठाईसवें और उन्तीसवें पद्य में सांसारिक नाते-रिश्तों के छीछालेदर को प्रकट करते हुए जन्म-मरण की सन्तति और उसके दुःखों को बतलाया है। तीसवें पद्य में बताया है कि आत्मा का कोई वंश, गोत्र और कुल नहीं है। यह वीज चौरासी लाख योनि में जन्मा है, तब इसका कौनसा वंश माना जाय? इकत्तीस और बत्तीसवें पद्य में आत्मा को कुल, गोत्र आदि से भिन्न सिद्ध करते हुए विकारों को वश करने के लिये बताया है। तेतीसवें पद्य में आत्म-हितकारी चारित्र को ग्रहण करने के लिये जोर दिया है। चौंतीसवें में आत्मा की अचिन्त्य शक्ति का कथन करते हुए उसे अजेय, बताया है। पैंतीसवें में बताया है कि पाप जीव को नरक की ओर और पुण्य स्वर्ग की ओर ले जाता है। पाप और पुण्य दोनों मिलकर चतुर्गतियों में जीव को उत्पन्न करते हैं, पर यह सभी अनित्य है। छत्तीसवें पद्य से लेकर इकतालीसवें पद्य तक पुण्य और पाप के फलों का विवेचन किया है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पाप पापानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पाप, इन चारों का वर्णन किया है। पुण्य और पाप ये दोनों ही आत्मा के स्वरूप नहीं हैं, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा शुद्ध है, निष्कलंक

है, इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के सिवा और कुछ नहीं है।

व्यालीसवें पद्य में दया धर्म की श्रेष्ठता बतायी गयी है। तेतालीसवें में श्रावक को अपने धन को किन किन कार्यों में व्यय करना चाहिये तथा कौन-से कार्य उसके करणीय हैं, बताया है। चवालीसवें पद्य से लेकर पचासवें पद्य तक दान और प्रभुभक्ति का वर्णन किया है। संसार के दुःखों से संतप्त मानव को प्रभुचरणों में ही शान्ति मिल सकती है। यद्यपि प्रभुभक्ति रागस्वरूप है, फिर भी इसके द्वारा मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है। शान्ति और सुख के भण्डार प्रभु की मूर्ति देखने से, उनके गुणों का स्मरण करने से आत्मा को शुद्ध करने की प्रेरणा मिलती है। अनादि कालीन कर्मों से बद्ध आत्मा अपनी मुक्ति की प्रेरणा प्रभुभक्ति से प्राप्त कर सकती है। इन पद्यों में इसी भक्ति का सुन्दर वर्णन किया है।

रत्नारकाधीश्वर शतक और अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थ

रत्नाकराधीश्वर शतक में समयसार, प्रवचनसार, आत्मानुशासन और परमात्म-प्रकाश की छाया स्पष्ट मालूम होती हैं। कवि ने इन आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध-शाली बनाया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को अनुभव के साँचे

में ढाल कर यह नवीन रूप दिया है । इस ग्रन्थ में अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार है। इसके अन्तस्तल में प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि कवि ने वेदान्त और उपनिषदों का अध्ययन भी किया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग जैन मान्यताओं के अनुसार आठवें, नौवें और दसवें पद्य में किया है। अपराजित शतक में कई स्थानों पर वेदान्त का स्पष्ट वर्णन किया है। कवि की इस शतकत्रयी को देखने से प्रतीत होता है कि संसार, आत्मा और परमात्मा का अनुभव इसने अच्छी तरह किया है। इसके प्रत्येक पद्य में आत्मरस छलकता है, आत्मज्ञान पिपासुओं को इससे बड़ी शान्ति मिल सकती है । अकेले रत्नाकर शतक के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार ज्ञात हो जाता है ।

रत्नाकर शतक का अध्यात्मवाद निराशावाद नहीं है। संसार से घबड़ा कर उसे नश्वर या क्षणिक नहीं बताया गया है, बल्कि वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। संसार के मनोज्ञ पदार्थों के अन्तरंग और बहिरंग रूप का साक्षात्कार कराते हुए उनकी बीभत्सता दिखलायी है। आत्मा के लिये अपने स्वरूप से भिन्न शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, पुरजन, परिजन सभी हेय हैं । ये संसार के पदार्थ बाहर से ही मोह के कारण सुन्दर दिखलायी पड़ते हैं, मोह के दूर होने पर इनका वास्तविक रूप सामने आता है; जिससे इनकी घृणित

अवस्था सामने आती है। अज्ञानी मोही जीव भ्रमवश ही मोह के कारण अपने साथ बन्धे हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र कलत्रादि को अपना समझता है तथा यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी समझता है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। ये सब जीव की विभाव पर्याय हैं, पर निमित्त से उत्पन्न हुयीं हैं, अतः इनके साथ जीव का कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मिक भेदविज्ञान, जिसके अनुभव द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता अनुभूत की जा सकती है, कल्याण का कारण है। इस भेदविज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही हो जाता है तथा भौतिक पदार्थों से आस्था हट जाती है। अतएव रत्नाकर शतक का अध्यात्म निराशावाद का पोषक नहीं, बल्कि कृत्रिम आशा और निराशाओं को दूर कर एक अद्भुत ज्योति प्रदान करनेवाला है।

रत्नाकराधीश्वर शतक की रचना शैली और भाषा

यह शतक मत्तेभविक्रीड़ित और शार्दूलविक्रीड़ित पद्यों में रचा गया है। इसकी रचना—शैली प्रसाद और माधुर्यगुण से ओत-प्रोत है। प्रत्येक पद्य में अंगूर के रस के समान मिठास वर्त्तमान है। शान्तरस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने

आध्यात्मिक और नैतिक विचारों को लेकर फुटकर पद्य रचना की है। वस्तुतः यह गेय काव्य है, इसके पद्य स्वतन्त्र हैं, एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं है। संगीत की लय में आध्यात्मिक विचारों को नवीन ढंग से रखने का यह एक विचित्र क्रम है।

कवि ने रत्नाकराधीश्वर---जिनेन्द्र भगवान् को सम्बोधन कर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा, आदि के कारण होनेवाली जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आत्म-तत्त्व की श्रेष्ठता बतायी है। अनादिकालीन राग-द्वेषों के आधीन हो यह जीव उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहता है। जब इसे रत्नत्रय की उपलब्धि होजाती है, तो यह इस गम्भीर संसार समुद्र को पार कर जाता है। कवि के कहने का ढंग बहुत ही सीधा-सादा है। यद्यपि पद्यार्थ गूढ़ है, शब्दविन्यास इस प्रकार का है जिससे गम्भीर अर्थ बोध होता है, पर फिर भी अध्यात्म विषय के प्रतिपादन की प्रक्रिया सरल है। एक श्लोक में जितना भाव कवि को रखना अभीष्ट था, सरलता से रख दिया है। कविवर रत्नाकर ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि मानव की व्याकरणात्मक चित्तवृत्ति रसदशा की उस भाव भूमि में पहुंचने में अव्याहत न हो, जिसमें आत्मा को परम तृप्ति मिलती है। कवि ने इसके लिये रत्नाकराधीश्वर सम्बोधन का मधुर आकर्षण रखकर पाठक या श्रोताओं को रसास्वादन कराने में पूरी तत्परता दिखलायी है। कवि की यह शैली

भर्तृहरि आदि शतक निर्माताओं की शैली से भिन्न है। इसमें भगवान् की स्तुति करते हुए आत्मतत्त्व का निरूपण किया है।

जिस प्रकार शारीरिक बल के लिये व्यायाम की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मिक शक्ति के विकास के लिये भावों का व्यायाम अपेक्षित है। शान्तरस के परिपाक के लिये तो भावनाओं की उत्पत्ति, उनका चैतन्यंश, उनकी विकृति एवं स्वाभाविक रूप में परिणति की प्रक्रिया विशेष आवश्यक है, इनके विश्लेषण के बिना शान्तरस का परिपाक हो ही नहीं सकता है। मुक्तक पद्यों में पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह अन्विति रक्षामात्र के लिये ही होता है। कवि रत्नाकर ने अपनी भावधारा को एक स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित कर अन्विति की रक्षा पूर्ण रीति से की है। अतः मुक्तकपद्यों में धुँधली आत्म-भावना के दर्शन न हो कर ज्ञाता, द्रष्टा, शाश्वत, निष्कलंक, शुद्ध, बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है। कवि के काव्य का केन्द्रबिन्दु चिरन्तन, अनुपम एवं अक्षय सुख-प्राप्ति ही है, यह रत्नत्रय की उपलब्धि होने पर आत्मस्वरूप में परिणत हो वृत्ताकार बन जाता है।

इस शतक की भाषा संस्कृत मिश्रित पुरातन कन्नड़ है। इसमें कुछ शब्द अपभ्रंश और प्राकृत के भी मिश्रित हैं। कवि ने इन शब्द रूपों को कन्नड़ की विभक्तियों को जोड़कर अपने अनुकूल ही बना लिया है। ध्वनि परिवर्तन के नियमों का कवि ने संस्कृत से

कन्नड़ शब्द बनाने में पूरा उपयोग किया है। कृदन्त और तद्धित प्रत्यय प्रायः संस्कृत के ही ग्रहण किये हैं। इस प्रकार भाषा को परिमार्जित कर अपनी नई सूझ का परिचय दिया है।

रत्नाकर शतक का रचयिता कवि रत्नाकर वर्णी

ईस्वी सन् १६ वीं शताब्दी के कर्णाटकीय जैन कवियों में कविवर रत्नाकर वर्णी का अग्रगण्य स्थान है। यह आशु कवि थे। इनकी अप्रतिम प्रतिभा की ख्याति उस समय सर्वत्र थी। इनका जन्म तुलुदेश के मूडबिद्री ग्राम में हुआ था। यह सूर्यवंशी राजा देवराज के पुत्र थे। इनके अन्य नाम अरण, वर्णी, सिद्ध आदि भी थे। बाल्यावस्था में ही काव्य, छन्द और अलंकार शास्त्र का अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त गोम्मटसार की केशव वर्णी की टीका, कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्मग्रन्थ, अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार नाटक, पद्मनन्दि कृत स्वरूप-सम्बोधन, इष्टोपदेश, अध्यात्म नाटक आदि ग्रन्थों का अध्ययन और मनन कर अपने ज्ञान भाण्डार को समृद्धशाली किया था। देवचन्द्र की राजावली कथा में इस कवि के जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

यह कवि भैरव राजा का सभापण्डित था। इसकी ख्याति और काव्य चातुर्य को देखकर इस राजा की लड़की मोहित हो गयी। इस लड़की से मिलने के लिये इसने योगाभ्यास कर दस वायुओं का साधन किया। वायु धारणा को सिद्ध कर यह योग

क्रिया द्वारा रात को महल में भीतर पहुंच जाता था और प्रतिदिन उस राजकुमारी के साथ क्रीड़ा करता था। कुछ दिनों तक उसका यह गुप्त कार्य चलता रहा। एक दिन इस गुप्त कारड का समाचार राजा को मिला। राजा ने समाचार पाते ही रत्नाकर कवि को पकड़ने की आज्ञा दी।

कवि रत्नाकर को जब राजाज्ञा का समाचार मिला तो वह अपने गुरु देवेन्द्रकीर्ति के पास पहुंचा और उनसे अणुव्रतदीक्षा ली। कवि ने व्रत, उपवास और तपश्चर्या की ओर अपने ध्यान को लगाया। आगम का अध्ययन भी किया तथा उत्तरोत्तर आत्म-चिन्तन में अपने समय को व्यतीत करने लगा।

विजयकीर्ति नाम के पट्टाचार्य के शिष्य विजयरण ने द्वादशानुप्रेक्षा की कन्नड़ भाषा में संगीत मय रचना की थी। यह रचना अत्यन्त कर्णप्रिय स्वर और ताल के आधार पर का गयी थी। गुरु की आज्ञा से इस रचना को हाथी पर सवार कर गाजे बाजे के साथ जुलुस निकाला गया था। इस कार्य से जिनागम की कीर्ति तो सर्वत्र फैली ही, पर विजयरण की कीर्ति गन्ध भी चारों ओर फैल गयी। रत्नाकर कवि ने भरतेश वैभव की रचना की थी, उसका यह काव्य ग्रन्थ भी अत्यन्त सरस और मधुर था। अतः उसको इच्छा भी इसका जुलुस निकालने की हुयी। उसने पट्टाचार्य से इसका जुलुस निकालने की स्वीकृति माँगी। पट्टाचार्य

ने कहा कि इसमें दो-तीन पद्य आगम विरुद्ध हैं, अतः इसका जुलूस नहीं निकाला जा सकता है। रत्नाकर कवि ने इस बात पर बिगड़कर पट्टाचार्य से वादविवाद किया।

पट्टाचार्य ने रत्नाकर कवि से चिढ़कर श्रावकों के यहाँ उसका आहार बंद करवा दिया। कुछ दिन तक कवि अपनी बहन के यहाँ आहार लेता रहा। अन्त में उसकी जैनधर्म से रुचि हट गयी, फलतः उसने शैव धर्म को ग्रहण कर लिया। इस धर्म की निशानी शिवलिंग को गले में धारण कर लिया। सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में शैवधर्म का बड़ा भारी प्रचार था, अतः कवि का विचलित होकर शैव हो जाना स्वभाविक था।

कवि ने थोड़े ही समय में शैवधर्म के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया और बसवपुराण की रचना की। सोमेश्वर शतक भी महादेव की स्तुति करते हुए लिखा है। जीवन के अन्त में कर्मों का क्षयोपशयम होने से उसने पुनः जैनधर्म धारण किया।

रत्नाकर कवि के सम्बन्ध में किम्बदन्ती

रत्नाकर अल्पवय में ही संसार से विरक्त हो गये थे। इन्होंने चारुकीर्त्ति योगी से दीक्षा ली थी। दिनरात तपस्या और योगाभ्यास में अपना समय व्यतीत करते थे। इनकी प्रतिभा अद्भुत थी, शास्त्रीयज्ञान भी निराला था। थोड़े ही दिनों में रत्नाकर की प्रसिद्धि सर्वत्र हो गयी। अनेक शिष्य उनके उपदेशों

में शामिल होने लगे। रत्नाकर प्रतिदिन प्रातःकाल अपने शिष्यों को उपदेश देते थे। शिष्य दो घड़ी रात शेष रहते ही इनके पास एकत्रित होने लगते थे। कवि-प्रतिभा इन्हें जन्म जात थी, जिससे राजा-महाराजाओं तक इनकी कीर्त्ति कौमुदी पहुँच गयी थी।

इनकी दिगदिगन्त व्यापिनी कीर्त्ति को देखकर एक कुकवि के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उसने इनकी प्रसिद्धि में कलंक लगाने का उपाय सोचा। एक दिन उसने दो घड़ी रात शेष रहने पर चौकी के नीचे वेश्या को गुप्तरीति से लाकर छिपा दिया। और स्वयं छद्मवेष में अन्य शिष्यों के साथ उपदेश सुनने के लिये आया। उपदेश में उसी धूर्त ने 'यह क्या है' ? कहकर चौकी के नीचे से वेश्या को निकालकर रत्नाकर कवि का अपमान किया। फलतः कविको अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। यद्यपि अनेक लोगों ने उनसे वहीं रहने की प्रार्थना की, पर उसने किसीकी बात नहीं सुनी।

कुछ दूर चलने पर कवि को एक नदी मिली। इसने इस नदी में यह कहते हुए डुबकी लगायी कि मुझे जैन धर्म की आवश्यकता नहीं है, मैं आज इसे जलाञ्जलि देता हूँ। कवि स्नान आदि से निवृत्त होकर आगे चला। उसे रास्ते में हाथी पर एक शैवपन्थ का जुलूस गाजे-बाजे के साथ आता हुआ

मिला। कवि ने इस ग्रन्थ को देखने को माँगा और देखकर कहा इसमें कुछ सार नहीं है। लोगों ने यह समाचार राजा को दिया, राजा से उन्होंने कहा कि एक कवि ने सार रहित कहकर इस ग्रन्थ का अपमान किया है। राजा ने चर भेजकर रत्नाकर कवि को अपनी राजसभा में बुलाया और उससे पूछा कि इसमें सार क्यों नहीं है ? तुमने इस महाकाव्य का तिरस्कार क्यों किया ? हमारी सभा के सभी पंडितों ने इसे सर्वोत्तम महाकाव्य बताया है, फिर आप क्यों अपमान कर रहे हैं ? आपका कौनसा रसमय महाकाव्य है ?

रत्नाकर कवि—महाराज ! नौ महीने का समय दीजिये तो मैं आपको रस क्या है ? यह बतलाऊँ। राजा से इस प्रकार समय माँग कर कवि ने नौ महीने में भरतेशवैभव ग्रन्थ की रचना की और सभा में उसको राजा को सुनाया। इसे सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए, राजा कवि की अप्रतिम प्रतिभा और दिव्य सामर्थ्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और कवि से शैव धर्म को स्वीकार करने का अनुरोध किया। कवि ने जैनधर्म छोड़ने का निश्चय पहले ही कर लिया था, अतः राजाके आग्रह से उसने शैवधर्म ग्रहण कर लिया।

मरणकाल निकट आने पर कवि ने पुनः जैनधर्म ग्रहण कर लिया। उसने स्पष्ट कहा कि मैं यद्यपि ऊपर से शिवलिंग धारण

किये हूँ पर अन्तरंग में मैं सदा से जैन हूँ। अतः मरने पर मेरा अन्तिम संस्कार जैनाम्नाय के अनुसार किया जाय।

उपर्युक्त दोनों कथाओं का समन्वय करने पर प्रतीत होता है कि कवि जन्म से जैनधर्मानुयायी था। बीच में किसी कारण से शैवधर्म को उसने ग्रहण कर लिया था, पर अन्त में वह पुनः जैनी बन गया था।

कवि का समय और गुरू परम्परा

इस कवि ने अपने त्रिलोकशतक में "मणिशैलंगतिइन्दुशालीशतकं" का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शालिवाहन शक १४७६ (ई० १५५७) में शतकत्रय को रचना की है। भरतेशवैभव में एक स्थान पर उसका रचनाकाल शक सं० १५८२ (ई० १६६०) बताया है। पर यह समय ठीक नहीं जँचता है। पहली बात तो यह है कि त्रिलोकशतक और भरतेश वैभव के समय में १०३ वर्ष का अन्तर है, अतः एक ही कवि १०३ वर्ष तक कविता कैसे करता रहा होगा। इसलिये दोनों ग्रन्थों में से किसी एक ग्रन्थ के समय को प्रमाण मानना चाहिये अथवा दोनों के रचयिता दो भिन्न कवि होने चाहिये।

रचनाशैली आदि की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भरतेशवैभव में लगभग ५० पद्य प्रक्षिप्त हैं, जिन्हें लोगोंने

भ्रमवश रत्नाकर कवि का समझ लिया है। उपर्युक्त समय भी प्रक्षिप्त पद्यों में ही आया है, अतः यह प्रक्षिप्त पद्यों का रचना समय है, भरतेश वैभव का नहीं। त्रिलोक शतक तथा सोमेश्वर शतक में दिये गये समय के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इस कवि का समय ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी का मध्य है।

इस कवि के दो गुरु प्रतीत होते हैं। एक देवेन्द्रकीर्त्ति और दूसरे चारुकीर्त्ति। इस कवि की विरुदावलि में शृंगार कवि राजहंस ऐसा उल्लेख आता है, जिससे कुछ लोगों का अनुमान है कि शृंगार कवि राजहंस यह कोई स्वतन्त्र कवि है, इसका गुरु देवेन्द्र-कीर्त्ति था तथा रत्नाकर का गुरु चारुकीर्त्ति था। पर विचार करने पर यह ठीक नहीं जंचता, शृंगार कवि राजहंस यह विरुदावली कवि रत्नाकर की ही है। क्योंकि भरतेश वैभव शृंगार रस की खान है, अतः 'शृंगार कवि राजहंस' यह उपाधि कवि को मिली होगी। राजाबली कथा के अनुसार देवेन्द्रकीर्त्ति और महेन्द्र-कीर्त्ति एक ही व्यक्ति के नाम हैं। रत्नाकरशतक में कवि ने अपने गुरु का नाम महेन्द्रकीर्त्ति कहा है। देवेन्द्रकीर्त्ति नाम की पट्टावली हुम्बुच्च के भट्टारकों की है और चारुकीर्त्ति पट्टावली मूडबिद्री के भट्टारकों की थीं। कवि ने प्रारम्भ में चारुकीर्त्ति भट्टारक से दीक्षा ली होगी। मध्य में शैव हो जाने पर वह

कुछ दिन इधर-उधर रहा होगा। पश्चात् पुनः जैन होने पर हुम्बुच्च गद्दी के स्वामी महेन्द्रकीर्त्ति या देवेन्द्रकीर्त्ति से उसने दीक्षा ली होगी। जैनधर्म से विरत होकर शैवदीक्षा लेने पर इसने सोमेश्वर शतक की रचना की है। इस शतक में समस्त सिद्धान्त जैनधर्म के हैं, केवल अन्त में 'हरहरा सोमेश्वरा' जोड़ दिया है। नमूने के लिये देखिये—

वर सम्यक्त्वसुधर्मजैनमतदोळतां पुट्टियादीक्षेयं।
धरिसीसन्नुतकाव्यशास्त्रगळनुं निर्माणमं माडुतं॥
वररत्नाकर योगियेंदु निरुत वैराग्य बंदेरलां।
हरदीक्षाव्रतनादेनै हरहरा श्रीचेन्न सोमेश्वरा॥

इससे स्पष्ट है कि कवि ने अपने जीवन में एक बार शैव दीक्षा ली थी, पर जैनधर्म का महत्व उसके हृदय में बना रहा था, इसी कारण अन्त समय में उसे पुनः जैन बनने में विलम्ब नहीं हुआ।

प्रस्तुत सम्पादन

इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित रत्नाकर शतक के आधार पर किया गया है। इसकी हस्तलिखित दो-तीन प्रतियाँ भी हमारे सामने रही हैं। इसके आध्यात्मिक विचारों ने हमें आकृष्ट किया, जिससे इसका हिन्दी अनुवाद और विस्तृत विवेचन लिखने का हमारा विचार हुआ। आरा में श्रीजैन-

सिद्धान्त-भवन के विशाल संग्रह ने हमारे इस विचार को प्रोत्साहन दिया, जिससे इस चातुर्मास में हमने इसका अनुवाद कर दिया। समग्र ग्रन्थ एक साथ नहीं छप सका; क्योंकि पृष्ठ संख्या इतनी अधिक हो जायगी जिससे पाठकों को असुविधा होगी। अतः इसे चार भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इसके विवेचन में संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के उपलब्ध जैन वाङ्मय का उपयोग किया गया है। इसे स्वाध्याय योग्य बनाने में शक्तिभर प्रयत्न किया है।

आभार और आशीर्वाद

जिन पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का सारांश लेकर विवेचन लिखा गया है, उन सबका मैं हृदय से आभारी हूं। श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा का भी आभारी हूँ क्योंकि इस भण्डार के ग्रन्थ रत्नों से मुझे ज्ञानवर्द्धन में पर्याप्त सहायता मिली है। मैं इस ग्रन्थ के सहसम्पादक पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, बालाविश्राम की संचालिका श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाईजी, सरस्वती प्रेस के संचालक श्री देवेन्द्रकिशोरजी, श्रीमती चम्पामणि धर्मपत्नी स्व० बा० भानुकुमारजी जैन एवं समस्त दि० जैन समाज आरा को आशीर्वाद देता हूँ, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया है।

पौष कृष्णा १३
वी० सं० २४७६

शुभाशीर्वाद—
मुनि संघ, आरा

विषय-सूची

श्रीवीतरागाय नमः

रत्नाकर शतक

(सानुवाद, विस्तृत विवेचन सहित)

अनुवादक का मंगलाचरण

सम्पूर्णविश्वैकपरावरज्ञं संसारकल्याणविवेचकं तम् ।
तीर्थङ्करश्चाद्य सदा महान्तं श्रीमन्महावीरमहं नमामि ॥१॥
शान्तिसागरशर्मदं सुमनोहरञ्चरणाम्बुजम् ।
सौम्यकर्मठचक्रवर्तिनमाभजे मुनिधर्मदम् ॥२॥
पायसागरपूज्यस्य शान्तिदं पदपंकजम् ।
प्रणमामि सदा भक्त्या संयतो देशभूषणः ॥३॥
जयकीर्तिमहाराजं गुरुं नत्वा करोम्यहम् ।
रत्नाकरस्य पद्यस्य भाषाञ्चैव मनोहराम् ॥४॥
पूर्वाचार्यकृपाचात्र फलतीवावलोक्यते ।
विशेषज्ञं न मां बुद्ध्वाज्ञत्वं मे क्षम्यतां सदा ॥५॥

श्री रागं सिरि-गंपुमाले मणिहारं वस्त्रमंगक्कलं-
कारं हेयमिवात्मतत्वरुचिबोधोद्यच्चरित्रंगळी ॥
त्रैरत्नं मनसिंगे सिंगरमुपादेयंगळेंदित्ते शृं-
गार श्रीकविहंसराजनोडेया रत्नाकराधीश्वरा ॥१॥

हे रत्नाकराधीश्वर ❀ !

सुगन्ध युक्त लेपन द्रव्य, परिमल युक्त पुष्पों की माला, बहुमूल्य रत्नों का हार तथा नाना प्रकार के वस्त्राभूषण केवल शरीर के अलंकार हैं; इसलिये वे सर्वथा त्याज्य हैं। आत्म स्वरूप के प्रति श्रद्धा, उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्र ये तीन रत्न आत्मा के अलंकार हैं। इसलिये ये तीनों रत्न स्वीकार के योग्य हैं और ऐसा समझ कर ही आपने मुझे इन रत्नों को दिया है।

विवेचन--- मोह के उदय से यह जीव भोग-विलास से प्रेम करता है, संसार के पदार्थ इसे प्रिये लगते हैं। नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण, अलंकार, पुष्पमाला आदि से यह अपने को सजाता है, शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है, तैलमर्दन, उबटन, साबुन आदि सुगन्धित पदार्थों द्वारा शरीर को स्वच्छ करता है; वस्तुतः ये क्रियाएँ मिथ्या हैं। यह शरीर इतना अपवित्र है कि

❀ इस ग्रन्थ में प्रत्येक पद्य के अन्त में "रत्नाकराधीश्वर" पद आया है जिसके तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जैसे रत्नों के स्वामी, (२) समुद्राधिपति और (३) रत्नाकर स्वामी—जिनेन्द्र प्रभु।

इसमें स्वच्छता किसीभी बाह्य साधन से नहीं आ सकती। केशर, चन्दन, पुष्प, सुगन्धित मालाएँ शरीर के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाती' हैं। अतः यह शरीर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने से अलंकृत नहीं हो सकता। वास्तव में शरीर की शोभा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र के धारण करने से ही हो सकती' है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के द्वारा इस अनित्य शरीर को अलंकृत नहीं किया जा सकता। यह प्रयास इस प्रकार व्यर्थ माना जायगा जैसे कि कीचड़ लगे पाँव को पुनः पुनः कीचड़ से धोना। अतः इस मलवाही अनित्य शरीर को प्राप्त कर आत्मकल्याण के साधनी-भूत रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक जीव का कर्त्तव्य है। जो साधक सांसारिक विषय-कषायों का त्याग करना चाहता है, उसे भौतिक ऐश्वर्य, यौवन, शरीर आदि के वास्तविक स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। इनका यथार्थ विचार करने पर

१—केशरचन्द पुष्प सुगान्धित वस्तु देख मारी।
देह परस तैं होय अपावन निस-दिन मलजारी॥
२—काना पौंडा पड़ा हाथ यह चूसै तो रोवै।
फलै अनन्त जु धर्मध्यान की भूमि विषै बोवै॥
—मंगतराय—द्वादश भावना

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत्॥
—सागार ध० ५, ३०

विषय-कषायों की निस्सारता प्रत्यक्ष हो जाती है, उनका खोखलापन सामने आ जाता है और जीव के परिणामों में विरक्ति आ जाती है। जब तक संसार के पदार्थों से विरक्ति नहीं होती, तब तक उनका त्याग संभव नहीं। भावावेश में आकर कोई व्यक्ति क्षणिक त्याग भले ही कर दे पर स्थायी त्याग नहीं हो सकता है।

अज्ञानी प्राणी संसार के मनमोहक रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, उसके यथार्थ रूप को नहीं समझता है, इससे अपने इस मानव जीवन को व्यर्थ खो देता है। यह मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है, इसका उपयोग आत्म कल्याण के लिये अवश्य करना चाहिये। कविवर बनारसीदास ने अपने नाटक समय सार के निम्नपद्य में विषय-भोगों में अपने जीवन को लगानेवाले व्यक्तियों की अज्ञता का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतङ्ग जो ईंधन ढोवै।
कंचन-भाजन धूरि भरै शठ, मूढ़ सुधारस सों पग धोवै॥
वे-हित काग उड़ावन कारन, डारि उदधि मनि मूरख रोवै।
त्यों नर-देह दुर्लभ्य बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै।

जो व्यक्ति आत्मकल्याण के लिये समय की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे कभी भी अवसर नहीं मिलता। उसके सारे मनसूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है, और वह कलपता हुआ संसार से चल

बसता है। संसारी जीव का चिन्तन सदा सांसारिक पदार्थों के संचय के लिये हुआ करता है, पर यमराज उसे बीच में ही दबोच देता है।

अतः संसार में से मोह को कम करना तथा सदा यह चिन्तवन करना कि ये संसार के सभी पदार्थ जिनको बड़े यत्न और कष्ट से संचित किया है, यहीं रहने वाले[1] हैं। ये एक क़दम भी हमारे साथ नहीं जायँगे, रत्नत्रय प्राप्ति का साधन है। लक्ष्मी, यौवन, स्त्री, पुत्र, पुरजन, परिजन, सभी क्षण भंगुर हैं; विनाशीक हैं। मरने पर हमारे साथ पुण्य-पाप के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं जा सकती है, सभी भौतिक पदार्थ यहीं रह जायँगे, सोचना आत्मिक ज्ञान प्राप्ति में सहायक है। जीव क्षणिक ऐश्वर्य प्राप्त कर अभिमान में आकर दूसरों की अवहेलना करता है, अपमान करता है तथा अपने को ही सर्वगुणसम्पन्न समझता है, पर उसे यह पता नहीं कि एक दिन उसका अभिमान चूर-चूर हो जायगा। वह ख़ाली हाथ आया है और ख़ाली हाथ जायगा, अपने साथ

१—जल बुब्बयसारित्थं धणजुव्वण जीवियंपि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोहमाहप्पो॥
—स्वा० का० अ० गा० २१

अर्थ—यह मोही प्राणी पानी के बुलबुले के समान क्षणविध्वंसी धन, यौवन, ऐश्वर्य आदि को नित्य मानता है, महान् आश्चर्य है।

एक चिथड़ा भी नहीं ले जा सकता है। अतएव आत्मकल्याण के कारण रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

कवि ने इस पद्य में मंगलाचरण भी प्रकारान्तर से कर दिया है। उसने अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी, रत्नत्रय के धारी, तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार कर रत्नाकर शतक को बनाने का संकल्प किया है। इस रत्नाकर शतक में संसार में होनेवाले दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया जायगा, जिससे यह प्राणी अपना कल्याण भली प्रकार कर सकेगा।

तत्वं प्रीति मणक्के पुट्टलदुसम्यग्दर्शनंमत्तमा,
तत्वार्थंगळनोळदु भेदिपुदुसम्यग्ज्ञामा बोधदिं।
सत्वंगळ्किडदंतुटोवि नडेयल्सम्यक्चारित्रं सुर—
त्नत्वंमूरिवु मुक्तिगेंद रुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥२॥

हे रत्नाकराधीश्वरा !

जीवादि तत्त्वों के प्रति मन में श्रद्धा का उत्पन्न होना सम्यग्दर्शन, इन तत्त्वों को प्रेम पूर्वक पृथक् पृथक् जानना सम्यग्ज्ञान और उस ज्ञान से प्राणीमात्र की रक्षा करना सम्यक् चारित्र कहलाता है। आपने ऐसा समझाया है। जिस प्रकार रत्न का स्वामी किसी को रत्न देकर उस रत्न के स्वरूप का वर्णन कर देता है उसी प्रकार स्वीकार करने योग्य इस रत्न-त्रय के आप अधिपति हैं; इन्हें देकर आपने इनके स्वरूप का वर्णन कर दिया है ॥२॥

विवेचन—जिस प्रकार रोग की अवस्था और उसके निदान के मालूम होजाने पर रोगी रोग से निवृत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार साधक संसार रूपी रोग का निदान और उसकी अवस्था को जान कर उससे छूटने का प्रयत्न कर सकता है। संसार के दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है।

आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास न कर अतत्त्वरूप श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है। इसके प्रभाव से जीव को स्वपर का विवेक नहीं रहता है, यह जीव जड़ शरीर को ही आत्मा समझ लेता है तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य में मोह के कारण लिप्त हो जाता है, उन्हें अपना समझ कर उनके सद्भाव और अभाव में हर्षविषाद उत्पन्न करता है।

मिथ्यादर्शन के निमित्त से यथार्थ वस्तु-स्वरूप का ज्ञान न होना मिथ्याज्ञान है। कषाय और असंयम के कारण संसार में भ्रमण करनेवाला आचरण करना मिथ्याचारित्र है। मोह के कारण विषय ग्रहण करने की इच्छा होती है। इच्छाएँ अनन्त हैं, इनकी तृप्ति न होने से जीव को दुःख होता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव इच्छा तृप्ति को ही सुख समझता है, पर वास्तव में इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होती हैं। एक इच्छा तृप्त होती है,

दूसरी उत्पन्न हो जाती है, दूसरी के तृप्त होने पर तीसरी उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार मोह के निमित्त से पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय ग्रहण की इच्छाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं; इससे इस जीव को व्याकुलता सदा बनी रहती है। भोग द्वारा इच्छाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करना बड़ी भारी भूल है। भोग करने पर इच्छाएँ कभी भी शान्त नहीं हो सकती हैं।

चारित्र मोह के उदय से क्रोधादि कषाय रूप अथवा हास्यादि नोकषाय रूप जीव के भाव होते हैं, जिससे यह कुकार्यों में प्रवृत्ति करता है। क्रोध के उत्पन्न होने पर अपनी तथा पर की शान्ति भंग करता है, मान के उत्पन्न होने पर अपने तथा पर को नीच समझता है, माया के उत्पन्न होने से अपने तथा पर को धोखा देता है और लोभ के उत्पन्न होने से अपने तथा पर को लुब्धक बनाता है। इस प्रकार कषायों के निमित्त से यह जीव निरन्तर दुःख उठाता है, और इस दुःख को सुख समझता है।

जब समस्त दुखों के मूल मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के दूर होने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है तभी मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है। इसलिये रत्नाकर कवि ने संसार के उक्त दुःख को दूर करने के लिये रत्नत्रय धारण करने का उपदेश दिया है। क्योंकि रत्नत्रय ही

आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, यह आत्मा से भिन्न नहीं है। क्रोधादि कषायें, वासनाएँ तथा अन्य विकार आत्मा के स्वरूप नहीं हैं; क्योंकि ये सब परिवर्तन शील हैं। जो आत्मा का स्वभाव होता है, वह सदा विद्यमान रहता है अथवा किसी न किसी अंश में अवश्य पाया जाता है। अतः विकार आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव हैं। इन विभावों के यथार्थ रूप को समझ कर वैसा श्रद्धान करना तथा आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

मनोविज्ञान बतलाता है कि मानव की अनन्त शक्तियों में श्रद्धा या संकल्प की शक्ति प्रधान है। जब तक विश्वास या संकल्प किसी कार्य का नहीं होता तब तक उसमें सफलता नहीं मिल सकती है। क्योंकि संकल्प या श्रद्धा के दृढ़ होने पर ही मनुष्य काम, क्रोध आदि कुभावनाओं से बच सकता है। कोई भी लौकिक या पारलौकिक कार्य श्रद्धा या विश्वास के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। आत्मकल्याण के लिये सहायक सम्यक्श्र द्धा या सम्यक् विश्वास है, कवि ने इसीका नाम सम्यग्दर्शन कहा है। यह आत्मा स्वभावसे ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय एवं अनन्त शक्तियों से युक्त है, इसका इसी रूप में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

आगम में सम्यग्दर्शन के व्यवहार और निश्चय ये दो भेद बताये हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश रहित और प्रमाण-नयादि के विचार सहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है[१]। इन सात तत्त्वों का उपदेश करनेवाले सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं सच्चे गुरु का तीन मूढ़ता और आठ मद से रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है[२]। इसके तीन भेद हैं—उपशमसम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

उपशमसम्यक्त्व[३]—मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय कर्म की एक या तीन; अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाँच या सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। सीधे साधे शब्दों में यों कहा जा

१—जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्। श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्॥ —पु० सि० श्लो० २२

२—श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ —र० श्रा० श्लो० ४

३—अनन्तानुबंधिनः कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्रमोहस्य मिथ्यात्व-सम्यक्मिथ्यात्व—सम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहस्य। आसां सप्तानां प्रकृतिनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति।

तत्त्वार्थ रा० २-३

सकता है कि कषाय और विकारों के दबा देने पर जो आत्मा में निर्मलता या विमल रुचि उत्पन्न होती है, वह उपशम सम्यक्त्व है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि विकार दबा देने से अधिक समय तक या चिर काल तक दबे नही रहते; कालान्तर में पुनः उद्बुद्ध हो जाते हैं, जिससे आत्मा की निर्मलता मलिनता के रूप में बदल जाती है।

*क्षायिकसम्यक्त्व*१—अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जो निर्मल तत्त्व प्रतीति होती है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। अभिप्राय यह कि प्रमुख विकारों के दूर करने पर जो निर्मल आत्मा की रुचि होती है, उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा गया है। यह सम्यग्दर्शन या आत्म-विश्वास प्रमुख विकारों के नाश से उत्पन्न होता है, इसलिये आत्म-साधन का बड़ा भारी कारण है। इसके उत्पन्न होते ही प्राणी कंचन और कामिनी की रुचि से दूर हट जाता है।

१—तत्रकषायवेदनीयस्य भेदा अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः दर्शनमोहस्य त्रयो भेदाः सम्यक्त्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति, आसां सप्तानां प्रकृतिनां अत्यन्तक्षयात्क्षायिकं सम्यक्त्वम्।

—स० सि० पृ० ११

क्षायोपशमिक[1] *सम्यक्त्व*—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व इन छः प्रकृतियों में किन्हीं के उपशम और किन्हीं के क्षय से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो आत्मरुचि उत्पन्न होती है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप, ज्ञाता, द्रष्टा समझना तथा अपने को समस्त संसार के पदार्थों से भिन्न समझ कर वैसा श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है[2]। संसार के पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं और न उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध है; क्योंकि वे पर हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जिनका प्रतिक्षण अनुभव होता है, वे आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव एवं ऐश्वर्य आदि पर पदार्थों में जो अपनत्व की प्रतीति हो रही है, वह मिथ्या है। जब तक प्राणी इन पर पदार्थों को अपना समझता

१—अनन्तानुबंधीकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षया-त्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्वार्थश्रद्धानं क्षायो-पशमिकं सम्यक्त्वम् ॥ —स० सि० पृ० ९२

तासामेव केसांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं

—विजयोदया ११

२—परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त भला है।

—छहढाला ३ प०२

रहता है, तभी तक उसे संसार में दुःख और अशान्ति झेलनी पड़ती है; या जब उसे अपना वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथा जिन पर पदार्थों के बीच वह रहता है, उनका सम्बन्ध भी मालूम हो जाता है तो वह अशान्ति से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

आत्म-शोधक को अपनी आत्मा, उसकी खराबियों, खराबियों के निदान और उनके दूर करने के उपाय जब अवगत हो जाते हैं तथा अपने ज्ञान की सत्यता पर उसे दृढ़ आस्था हो जाती है तो निश्चय वह अपनी आत्मसिद्धि में सफल होता है। नियमसार में दुःखों से स्थायी छुटकारा पाने के लिये बताया गया है—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

—नि० सा० गा० १०२

अर्थ—ज्ञान, दर्शन मय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं—मुझ से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं।

आत्मविकास का प्रधान साधन सम्यग्दर्शन है; सम्यक् श्रद्धा ही साधना की भूमिका तैयार करती है अतः प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा का विश्वास कर परपदार्थों से वैराग्य प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान—नय और प्रमाणों द्वारा जीवादि पदार्थों को यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान[1] है। दृढ़ आत्म विश्वास के अनन्तर ज्ञान में सम्यक्पना आता है। यों तो संसार के पदार्थों को कम या अधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति जानता है, पर उस ज्ञान का यथार्थ में आत्मविकास के लिये उपयोग कम ही व्यक्ति करते हैं। सम्यग्दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकास का कारण अवश्य होता है। स्व और पर का भेदविज्ञान ही वस्तुतः सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान की बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है।

ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग-निवारन॥
कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥
मनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

—छहढाला अ० ४ प० २-३

१—नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्।
—रा० वा० अ० १ सू० १

येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाव्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। —स० सि० अ० १ सू०

अर्थ—संसार में सम्यग्ज्ञान के समान और कोई सुख देनेवाला पदार्थ नहीं है। जन्म, जरा और मृत्यु इन रोगों को दूर करने के लिये ज्ञानरूपी अमृत ही महान् औषधि है। ज्ञान के बिना जो कर्म करोड़ों जन्मों तक तपस्या करने पर नष्ट होते हैं, उन्हें ज्ञानी मन, वचन, काय को वश कर गुप्तियों द्वारा क्षणभर में ही नष्ट कर देता है। अनन्त बार नव ग्रैवेयकों में पैदा होने पर भी आत्मज्ञान के बिना इस जीव को कुछ सुख नहीं मिला।

रुपया, पैसा, कुटुम्बी, हाथी, घोड़े, मोटर, महल, मकान आदि कोई भी काम आनेवाला नहीं है; सब यहीं पड़े रह जायँगे। आत्मज्ञान ही कल्याण करनेवाला है। विषय-वासनारूपी आग को ज्ञानरूपी जल ही शान्त कर सकता है। क्योंकि स्व-पर भेद विज्ञान द्वारा यह जीव शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव कर सकता है।

निश्चय सम्यग्ज्ञान अपने आत्मस्वरूप को जानना ही है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सबको जान लिया; जो आत्मा को नहीं जानता है वह सब कुछ जानता हुआ भी अज्ञानी है। इसी दृष्टिकोण को लेकर स्याद्वादमंजरी में कहा गया है—

ऐको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भवाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भवः सर्वथा तेन दृष्टः॥

अर्थ—जिसने आत्मा को सब दृष्टिकोणों से जान लिया है, उसने सब पदार्थों को सब प्रकार से ज्ञात कर लिया है। जिसने सब प्रकार से सब भावों को देखा है वही आत्मा को अच्छी तरह जानता है। अतः निश्चय सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप को अच्छी तरह जाना जा सकता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदि का अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन करना, मूलगुण और उत्तर गुणों का धारण करना सम्यक् चारित्र[1] है। अथवा विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप क्रियाओं से निवृत्ति करना सम्यक् चारित्र है[2]। चारित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है, यह कषाय और वासनाओं से सर्वथा रहित है। मोह, क्षोभ से रहित जीव की जो निर्विकाररूप प्रवृत्ति होती है, जिससे जीव में साम्यभाव की उत्पत्ति होती[3] है, चारित्र

१—पंचाचारादिरूपं दृगवगमयुतं सच्चरित्रं च भाक्तमित्यादि
—अ० क० मा० श्लो० १३

२—असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद्-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण-भणियं॥
—द्र० सं० गा० ४५

३—साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्त निर्विकारो जीवस्य परिणामः।
—प्रवचनसार टी० ७

है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्र के बल से ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है, अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सदा अच्छे रूप में रखना आवश्यक है। मन से किसी का बुरा नहीं सोचना, वचन से किसी को बुरा नहीं कहना तथा शरीर से कोई बुरा कार्य नहीं करना सदाचार है।

विषय-तृष्णा और अहंकार की भावना मनुष्य को सम्यक् आचरण करने से रोकती है। विषय-तृष्णा की पूर्ति के लिये ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी, हिंसा आदि पापों को करता है। तृष्णा को शान्त करने के लिये वह स्वयं अशान्त हो जाता है तथा भयंकर से भयंकर पाप कर डालता है। अतः विषय निवृत्तिरूप चारित्र को धारण करना परम आवश्यक है। गुणभद्राचार्य ने तृष्णा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
तत्कियद् कियदायाति वृथा वै विषयैषिता ॥

अर्थ—प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने समस्त विश्व का वैभव भी अणु के तुल्य है। इस स्थिति में यदि संसार की सम्पत्ति का बटवारा किया जाय तो प्रत्येक प्राणी के हिस्से में कितनी आयगी ? अतः विषय-तृष्णा व्यर्थ है। रत्नत्रय ही सच्ची शान्ति देनेवाला है, यही सच्चा सुखदायक है।

मिगे षड्द्रव्यमनस्तिकाय मेनिपैदं तत्ववेळं मनं ।
वुगलोंवत्तु पदार्थमं तिळिदोडं तन्नात्मनी मेय्य दं ॥
दुगदिं वेरोडलेन चेतनमे जीवं चेतनं ज्ञानरू ।
पिडिगायेंदरिदिर्दने सुखियला ! रत्नाकराधोश्वरा ॥३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छः द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय, ये पाँच अस्तिकाय हैं। जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, आश्रवतत्त्व, बंधतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, और मोक्षतत्त्व, ये सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप के मिलने से नौ पदार्थ बन जाते हैं। इन सभी बातों को भलीभाँति जानकर जो श्रद्धा करता है तथा अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् समझता है वही अपना कल्याण करता है। शरीर अचेतन है, जीव चैतन्य और ज्ञान स्वरूप। जो मनुष्य ऐसा जानता है वही सुखी रह सकता है; अर्थात् इस भेद का ज्ञाता ही सुखी होता है ॥३॥

विवेचन—पाँच अस्तिकाय, छःद्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का जो श्रद्धान करता है, वही सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है। जैनागम में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों के समूह का नाम लोक बतलाया है। ये द्रव्य स्वभाव सिद्ध, अनादिनिधन, त्रिलोक के कारण हैं। द्रव्य की परिभाषा "गुण-पर्ययवत् द्रव्यम्" अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य है,

इस रूप में बतायी गयी है। प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव परिणामनशील है तथा द्रव्य में परिणाम—पर्याय उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही गुण और गुण से उत्पन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। गुण कारण है और पर्याय कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में शक्तिरूप अनन्तगुण हैं तथा प्रत्येक गुण के भिन्न भिन्न समयों में होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य स्वभाव का परित्याग न करता हुआ उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य से युक्त है। जैन-दर्शन में द्रव्य को कूटस्थ नित्य या निरन्वय विनाशी नहीं माना गया है, बल्कि परिणामनशील उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यात्मक माना गया है। जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यों से पृथक् संसार में कोई वस्तु नहीं है, जितने भी जड़, चेतनात्मक पदार्थ दिखलायी पड़ते हैं, वे सब इन्हीं द्रव्यों के अन्तर्गत हैं।

जिस प्रकार अन्य दर्शनों में द्रव्य और गुण दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं, उस प्रकार जैन दर्शन में नहीं। जैन दर्शन में गुण और गुणविकार—पर्याय इन दोनों के समुदाय का नाम द्रव्य बताया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने गुण और पर्यायों के आश्रय का नाम ही द्रव्य बतलाया है —

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

उप्पत्तीविणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करोंति तस्सेव पज्जाया ॥

प्रा० सा० गा० १०—११

अर्थ—द्रव्य का लक्षण सत् या उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक अथवा गुण और पर्यायों का आश्रयात्मक बताया गया है। द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न विनाश, वह तो सत्स्वरूप है; पर उसकी पर्यायें सदा उत्पत्ति, विनाश ध्रौव्यात्मक हैं। अर्थात् द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट, किन्तु उसकी पर्यायें उत्पन्न और विनाश होती रहती हैं। इसीलिये द्रव्य को नित्यानित्यात्मक माना गया है।

जीव —आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनवाला है, चैतन्य है, ज्ञानादि पर्यायों का कर्ता है, कर्मफल भोक्ता है, स्वयं प्रभु है। यह जीव अपने शरीर के प्रमाण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव द्रव्य का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाव अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥—प्रा० सा० २,८०

अर्थ—जिसमें रूप, रस, गन्ध न हों, तथा इन गुणों के न रहने से जो अव्यक्त है, शब्दरूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिन्ह से भी जिसे कोई नहीं जान सकता है, जिसका न कोई निर्दिष्ट

आकार है उस चैतन्य गुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं।

व्यवहार नय से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों द्वारा जो जीता है, पहले जिया था और आगे जीवेगा उसे जीव द्रव्य कहते हैं। निश्चय नय से जिसमें चेतना पायी जाय वह जीव है। जीव द्रव्य के शुद्ध और अशुद्ध या भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं। जीव द्रव्य के साथ जब तक कर्मरूपी बीज का सम्बन्ध है तब तक भवाङ्कुर उत्पन्न होता रहता है और जन्म-मरण आदि नाना रूप से विभाव परिणमन होता रहता है। यही जीव की अशुद्ध अवस्था है। इस अवस्था को दूर करने के लिये जीव संयम, गुप्ति, समिति चरित्र आदि का पालन करता है तथा संवर और निर्जरा द्वारा घातिया कर्मों का क्षीण करके शुद्धावस्था प्राप्त करता है। यह अवस्था भी जीव की बिल्कुल शुद्ध नहीं है, क्योंकि अघातिया कर्म अभी शेष हैं। अतः पूर्ण शुद्ध अवस्था मोक्ष होने पर होती है। अशुद्ध जीव संसारी और शुद्ध जीव मुक्त कहलाता है।

जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव की सत्ता स्वतंत्ररूप से मानी गयी है, अतः यहाँ जीवों की अनेकता है।

पुद्गलद्रव्य—"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" अर्थात् जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जायँ उसे

पुद्गल कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो हम खाते हैं, पीते हैं, छूते हैं, सूंघते हैं वह सब पुद्गल है। छहों द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिक है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में जितने पदार्थ आते हैं वे सभी पुद्गल हैं। हमें जितने पदार्थ दिखलायी पड़ते हैं, वे भी सब पुद्गल ही हैं। पुद्गल का क्षेत्र बहुत व्यापी है। जीव द्रव्य के अनन्तर पुद्गल का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है, क्योंकि जीव और पुद्गल के संयोग से संसार चलता है, इन दोनों का संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध : अणु पुद्गल के सबसे छोटे टुकड़े को कहते हैं, यह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता है, केवल स्कन्धरूप कार्य को देखकर इसका अनुमान किया जाता है।

दो या अधिक परमाणुओं के बन्ध से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध द्रव्य के आगम में तेईस भेद बताये गये हैं। पुद्गल द्रव्य की पर्यायें निम्न बतायी गयी हैं—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥—द्रव्य सं० गा० १६

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चाँदनी और धूप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रकारान्तर से पुद्गल के छः भेद हैं—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। जिसे तोड़ा-फोड़ा जा सके तथा दूसरी जगह ले जा सकें उसे बादरबादर स्कन्ध कहते हैं; जैसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि। जिसे तोड़ा-फोड़ा न जा सके, पर अन्यत्र ले जा सकें उस स्कन्ध को बादर कहते हैं, जैसे जल, तैल आदि। जिस स्कन्ध का तोड़ना, फोड़ना या अन्यत्र लेजाना न हो सके, पर नेत्रों से देखने योग्य हो उसको बादरसूक्ष्म कहते हैं; जैसे छाया, आतप, चाँदनी आदि। नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषय भूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं; जैसे शब्द, रस, गन्ध आदि। जिसका किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसको सूक्ष्म कहते हैं, जैसे कर्म। जो स्कन्ध रूप नहीं हैं ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओं को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं। इस प्रकार भाषा, मन, शरीर, कर्म आदि भी पुद्गल के अन्तर्गत हैं।

धर्म द्रव्य—इसका अर्थ पुण्य नहीं है, किन्तु यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। छहों द्रव्यों में क्रियावान् जीव और पुद्गल हैं, शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, इनमें हलन-चलन नहीं होता है। यह द्रव्य गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक होता है, प्रेरणा करके

नहीं चलाता। यह अमूर्त्तिक द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है यद्यपि चलने की शक्ति द्रव्यों में वर्त्तमान है, पर बिना धर्म द्रव्य की सहायता के गमन क्रिया नहीं हो सकती है।

अधर्म द्रव्य——इसका अर्थ भी पाप नहीं है. किन्तु यह भी एक स्वतन्त्र अमूर्त्तिक द्रव्य है। यह ठहरते हुए जीव और पुद्-गलों को ठहरने में सहायक होता है। यह भी प्रेरणा कर किसी को नहीं ठहराता, पर ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को सहायता देता है। इसकी सहायता के बिना जीव, पुद्गलों की स्थिति नहीं हो सकती है। बलपूर्वक प्रेरणा कर यह किसीको नहीं ठहराता है, इसका अस्तित्व समस्त लोक में वर्त्तमान है।

आकाश द्रव्य——जो सभी द्रव्यों को अवकाश देता है, उसे आकाश कहते हैं। यह अमूर्त्तिक और सर्व व्यापी है। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। सर्वव्यापी आ-काश के बीच में लोकाकाश है, यह अकृत्रिम, अनादि-निधन है और इसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश ही है। आकाश के इस विभाजन का कारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन दोनों के कारण ही जीव और पुद्गल लोकाकाश की मर्यादा से बाहर नहीं जाते।

काल—वस्तुओं की हालत बदलने में सहायक काल द्रव्य होता है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्याय बदलने की शक्ति वर्त्तमान है, फिर भी काल द्रव्य की सहायता के बिना परिवर्त्तन नहीं हो सकता है। यह परिणमनशील पदार्थों के परिवर्त्तन में सहायक होता है। काल के दो भेद हैं—निश्चय काल और व्यवहार काल।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जुदे-जुदे कालाणुस्थित हैं, ये रत्नों की राशि के समान अलग-अलग हैं, इन कालाणुओं को ही निश्चय काल कहते हैं, तथा इन कालाणुओं के निमित्त से ही प्रति क्षण परिणमन होता रहता है। आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने निश्चयकाल को सिद्ध करते हुए लिखा है—

कालोविय ववएसो सब्भावपरुवओ हवदि णिच्चो।
उप्पाण्णपद्धंसी अवरो दीहंतर ट्ठाई॥—गो० जी० गा० ५७९

अर्थ—काल यह संज्ञा मुख्यकाल की बोधक है, क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्यकाल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है। व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत् की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

समय, आवली, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, घटी, प्रहर, दिन, रात सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष और युग आदि को व्यवहार काल कहते हैं। व्यवहार काल की उत्पत्ति सौर-जगत से होती है अतः व्यवहार काल का व्यवहार मनुष्य क्षेत्र—ढाई द्वीप में ही होता है। क्योंकि मनुष्य क्षेत्र में ही ज्योतिषी देवों का गमन होता है, मनुष्य क्षेत्र के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

उपर्युक्त छः द्रव्यों में से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं; काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता है। क्योंकि आगम में बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय बताया गया है; काल के अणु असंख्यात होने पर भी परस्पर में अबद्ध हैं। जिस प्रकार आकाश के प्रदेश एकत्र सम्बद्ध और अखण्ड हैं या पुद्गल के प्रदेश कभी मिलते हैं और कभी बिछुड़ते हैं, उस प्रकार काल द्रव्य के प्रदेश नहीं हैं। वे सदा रत्नराशि के समान एकत्र रहते हुए भी अबद्ध रहते हैं। इसीलिये काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता।

तत्त्व सात बताये गये हैं। इन सातों में जीव और अजीव दो मुख्य हैं, क्योंकि इन्हीं दोनों के संयोग से संसार चलता है। जीव के साथ अजीव—जड़ पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जीव की प्रत्येक क्रिया और

उसके प्रत्येक विचार का प्रभाव स्वतः अपने ऊपर पड़ने के साथ कर्म वर्गणाओं— बाह्य भौतिक पदार्थों पर जो आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं, पड़ता है जिससे कर्म रूप परमाणु अपनी भावनाओं के अनुसार खिंच आते हैं और आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस कर्मबन्ध की प्रक्रिया का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥

अर्थ—जीव के द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोहरूप परिणामों को निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं। जीव अपने चैतन्य रूप भावों से स्वतः परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो निमित्तमात्र हैं। जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरे के परिणमन में निमित्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि अनादि कालीन कर्म परम्परा के निमित्त से आत्मा में राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है, जिससे मन, वचन और काय में अद्भुत हलन-चलन होता है, तथा राग द्वेष रूप प्रवृत्ति के परिमाण और गुण

के अनुसार पुद्‌गल द्रव्य में परिणमन होता है और वह आत्मा के कार्माण—वासनामय सूक्ष्म कर्म शरीर में आकर मिल जाता है। इस प्रकार कर्मों से रागादि भाव और रागादि भावों से कर्मों की उत्पत्ति होती है।

सारांश यह है कि राग-द्वेष, मोह, विकार, वासना आदि का पुद्‌गल कर्मबन्ध की धारा के साथ बीजवृक्ष की सन्तति के समान अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है तथा जब तक इस कर्म सन्तान को तोड़ने का जीव प्रयत्न न करेगा यह सम्बन्ध चलता ही चला जायगा। क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से राग द्वेष, मोह, आदि विकार उत्पन्न होते है, इनमें आसक्ति या लगन हो जाने से नवीन कर्म बन्धते हैं। जो जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा विकारों के उत्पन्न होने पर आसक्त नहीं होता अथवा विकारों को ही उत्पन्न करने वाले कर्म को उदय में आने के पहले ही नष्ट कर देता है, अवश्य छूट जाता है। पर जो कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, कर्म के फन्दे में पड़कर उसके फल को सहता रहता है, वह अपना उद्धार नहीं कर सकता। कर्मों के उदय से विकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, पर पुरुषार्थी व्यक्ति उन विकारों के वश में नहीं होता, तथा उन्हें अपना विभाव रूप परिणमन समझ कर भिन्न समझता है।

कोई कोई प्रबुद्ध साधक विकारों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों को ही नष्ट कर देते हैं, पर यह काम सबके लिये संभव नहीं। इतना पुरुषार्थ तो गृहस्थ और त्यागी प्रत्येक व्यक्ति ही कर सकता है कि विकारों के उत्पन्न होने पर उनके आधीन न हो और पररूप समझ कर उनकी अवहेलना कर दे। कविवर दौलतराम ने राग और विराग का सुन्दर वर्णन किया है, उन्होंने समझाया है कि राग के कारण ही संसार के भोग विलास सुन्दर प्रतीत होते हैं, जब प्राणी उन्हें अपने से भिन्न समझ लेते हैं, तो उसे वे भोग विलास भयंकर विषैले साँप के समान प्रतीत होने लगते हैं।

राग उदै भोग-भाव लागत सुहावने से,
विना राग ऐसे लागैं जैसे नागकारे हैं।
राग ही सौं पाग रहें तन म सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।
राग सौं जगत रीति झूठी सब सांच जाने,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी विन रागी के विचार में बड़ों ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहु काहु को वयारे हैं।

अर्थ—मोह के उदय से यह जीव भोग विलास से प्रेम करता है, उसे भोग विलास अच्छे लगते हैं। राग रहित जीव

को ये भोग विलास काले साँप के समान भयंकर प्रतीत होते हैं। राग के कारण यह जीव शरीर को ही सब कुछ समझता है, किन्तु राग के नष्ट होने पर शरीर से ग्लानि हो जाती है तथा शरीर को आत्मा से भिन्न समझने लगता है जिससे पाप, अत्याचार और अनीति आदि कार्य करना बिल्कुल बन्द कर देता है। राग के कारण ही यह जीव दुनिया के झूठे नाते, रिश्ते और रीति रिवाजों को सत्य मानता है, पर राग के दूर होने पर दुनिया का खेल आंखों के सामने प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ने लगता है। रागी (मोही) विरागी (निर्मोही) के विचार में बड़ा भारी अन्तर है; भटा (बैंगन) किसी को पथ्य होता है किसी को अपथ्य।

अतएव जीव तत्त्व और अजीवतत्त्व के स्वरूप और उसके सम्बन्ध को जानकर प्रत्येक भव्य को अपनी आत्मा का कल्याण करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। आगे के तत्त्वों में आस्रव और बन्ध तत्त्व संसार के कारण हैं तथा संवर और निर्जरा मोक्ष के।

आस्रव--कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा में मन, वचन और शरीर की क्रिया द्वारा स्पन्दन होता है, जिससे कर्म परमाणु आते हैं, इस आने का नाम ही आस्रव है। अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन

बन्ध के कारणों को आस्रव कहते हैं। आस्रव के मूल दो भेद हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। जिन भावों द्वारा कर्मों का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव और जो कर्म आते हैं उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। कर्मों का आना और उनका आत्म प्रदेशों तक पहुँचना द्रव्यास्रव है। भावास्रव के ५७ भेद हैं—५ मिथ्यात्व १२ अविरति १५ प्रमाद २५ कषाय।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप को भूल कर शरीर आदि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि करता है, जिससे उसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित होती हैं। वह स्वपर विवेक से रहित होकर लोक मूढताओं को धर्म समझता है। वासना और कषायों को पूर्ण करने के लिये अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है। ज्ञान, शरीर, बल, वैभव, आदि का घमंड कर मदोन्मत्त हो जाता है, जिससे इस मिथ्यादृष्टि जीव के संक्लेशमय परिणामों के रहने के कारण अशुभ आस्रव होता है। प्रत्येक आत्मकल्याण के इच्छुक जीव को इस मिथ्यात्व अवस्था का त्याग करना आवश्यक है। मिथ्यात्व के लगे रहने से जीव शराबी के समान आत्मकल्याण से विमुख रहता है। अतएव आत्मतत्त्व की दृढ़ श्रद्धा करने पर ही जीव कल्याणकारी रास्ते पर आगे कदम बढ़ा सकता है।

अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक आत्मविश्वास के उत्पन्न हो जाने पर भी असंयम, कषाय, प्रमाद, योग के कारण कर्मों का अशुभ आस्रव मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा कुछ कम करता है। व्रती जीव प्रमाद और कषायों के रहने पर अव्रती की अपेक्षा कम अशुभ आस्रव करता है। आत्मा के शान्त और निर्विकारी स्वरूप को अशान्त और विकारी क्रोध, मान, माया, एवं लोभ कषायें ही बनाती हैं। कषाय से युक्त आस्रव संसार का कारण होता है। प्रमाद एवं कषायों के दूर हो जाने पर योग के निमित्त से होनेवाला आस्रव और भी कम होता चला जाता है। आस्रव—कर्मों के आने को दुःख का कारण बताया है।

बन्ध—दो पदार्थों के मिलने या विशिष्ट सम्बद्ध होने को बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकार का होता है—भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष आदि विभावों से कर्म-वर्गणाओं का बन्ध होता है, उन्हें भाव बन्ध और जो कर्म वर्गणाएँ आत्म प्रदेशों के साथ मिलती हैं, उन्हें द्रव्यबन्ध कहते हैं। कर्म-वर्गणाओं के मिलने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है तथा आत्मा के संयोग से कर्म स्कन्धों का कार्य भी विलक्षण हो जाता है। कर्म आत्मा से मिल जाते हैं, पर उनका तादात्म्य सबन्ध नहीं होता। दोनों—जीव और पुद्गल का स्वभाव भिन्न-

भिन्न है। जीव का स्वभाव चेतन है, और पुद्गल का स्वभाव अचेतन, अतः ये दोनों अपने अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए भी परस्पर में मिल जाते हैं।

बन्ध चार प्रकार का माना गया है प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध। प्रकृतिबन्ध स्वभाव को कहते हैं, जैसे नीम की प्रकृति कड़ुवी और गुड़ की मीठी होती है उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त हुई कार्माण वर्गणाओं में जो ज्ञान को रोकने, दर्शन को आवरण करने, मोह को उत्पन्न करने, सुख-दुःख देने आदि का स्वभाव पड़ता है इसका नाम प्रकृतिबन्ध है। अभिप्राय यह है कि आयी हुई कार्माण वर्गणाएँ यदि किसी के ज्ञान में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो ज्ञानावरण का स्वभाव; दर्शन में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो दर्शनावरण का स्वभाव, सुख, दुख में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो साता, असाता वेदनीय का स्वाभाव पड़ेगा। इसी प्रकार आगे-आगे भी कर्मों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। आत्मा के प्रदेशों के साथ कार्माण वर्गणाओं का मिलना अर्थात् एकक्षेत्रावगाही होना प्रदेशबन्ध है। स्वभाव पड़ जाने पर अमुक समय तक वह आत्मा के साथ रहेगा, इस प्रकार की काल मर्यादा का बनना स्थितिबन्ध है। फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभागबन्ध है।

संवर—आस्रव का रोकना संवर है। आस्रव मन, वचन और काय से होता है अतः मूलतः मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति को रोकना संवर है। चलना, फिरना, बोलना, आहार करना, मल-मूत्र विसर्जन करना आदि क्रियाएँ नहीं रुक सकती हैं इसलिये मन, वचन, और शरीर की उद्दण्ड प्रवृत्तियों को रोकना संवर है। संवर के गुप्ति के साथ समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र भी हेतु बताये गये हैं। यह संवर मोक्ष का कारण है।

निर्जरा—कर्मों का झड़ना निर्जरा है। इसके दो भेद हैं, सविपाक और अविपाक। स्वाभाविक क्रम से प्रतिक्षण कर्मों का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक और तप आदि साधनों के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा होती है। सविपाक निर्जरा हर क्षण प्रत्येक संसारी जीव के होती रहती है तथा नूतन कर्म भी बन्धते रहते हैं, पर अविपाक निर्जरा कर्म नाश में सहायक होती है। क्योंकि संवर द्वारा नवीन कर्मों का आना रुक जाने पर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाने से क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष—समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार घातिया

कर्मों के नाश होने पर जीवन मुक्त अवस्था—अर्हंत अवस्था की प्राप्ति होती है। यह जीव कर्मों के कारण ही पराधीन रहता है, जब कर्म अलग हो जाते हैं तो इसके अपने ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुण प्रकट हो जाते हैं। जीवन मुक्त अवस्था में कर्मों के अभाव के कारण आहार ग्रहण करना और मल-मूत्र का त्याग करना भी बन्द हो जाता है, कैवल्य प्राप्ति हो जाने से सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पश्चात् शेष चार कर्म आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय के नाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार द्रव्य, तत्त्व और पदार्थों के स्वरूप परिज्ञान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपना आत्मिक विकास करना चाहिये। तत्त्वों के स्वरूप को समझे बिना हेयोपादेय रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः चैतन्य, ज्ञान, आनन्द रूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये।

अरिविंदी त्तिसलक्कुमात्मनिरुवं देहंवोळी कण्गेतां।
गुरियागं शिलेयोळ्सुवर्ण मरलोळ्सोरभ्यमा क्षीरदोळ्॥
नरु नेय्काष्टदोळग्नि यिर्पतेरदिंदी मेयोळोंदिर्पनें—
दरिदभ्यासिसे कण्गुमेंदरूपिदै! रत्नाकराधीश्वरा॥४॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

आत्मा की स्थिति को ज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर इन चर्म चक्षुओं को गोचर है उस प्रकार आत्मा गोचर नहीं है।

स्थूल के पीछे वह सूक्ष्म शक्ति उस प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पत्थर में सोना, पुष्प में पराग, दूध में सुगन्ध तथा घी और लकड़ी में आग। शरीर के अन्दर आत्मा की स्थिति को इस प्रकार जानकर अभ्यास करने से इसकी प्रतीति होगी। आपने ऐसा कहा ॥४॥

विवेचन—आत्मा शरीर से भिन्न है, यह अमूर्त्तिक, सूक्ष्म, ज्ञान, दर्शन, आदि चैतन्य गुणों का धारी है। अरूपी होने के कारण आँखों से इसका दर्शन नहीं हो सकता है। स्थूल शरीर ही हमें आँखों से दिखलायी पड़ता है, किन्तु इस शरीर के भीतर रहनेवाला आत्मा अनुभव से ही जाना जा सकता है, आँखें उसे नहीं देख सकतीं। कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है—

जो अपनी दुति आपु विराजत है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक, महासुखसागर को विसरामी॥
जीव अजीव जिते जगमें, तिनको गुन ग्यायकअतरजामी॥
सो शिवरूप वसै शिवनायक, ताहि विलोकन में शिवगौमी।

अर्थात्—जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शनरूप चैतन्य स्वभाव के कारण स्वयं शोभित हो रहा है वही प्रधान है। यह सदा कर्ममल से रहित, चेतन अनन्तसुख का भण्डार, ज्ञाता, द्रष्टा है। शुद्ध आत्मा ही संसार के सभी पदार्थों को अपने अनन्त ज्ञान द्वारा

जानता है, अनन्तदर्शन द्वारा देखता है, यह मोक्ष स्वरूप है, इसके शुद्धरूप के दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न है वह शरीर में रहता हुआ भी शरीर के स्वरूप और गुणों से अछूता है।

विश्व में प्रधानतः दो प्रकार के पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। आत्मा विश्व के पदार्थों का अनुभव करनेवाला, ज्ञाता, द्रष्टा है। जीवित प्राणी ही इन्द्रियों द्वारा संसार के पदार्थों को जानता, देखता, सुनता, छूता, सूंघता, और स्वाद लेता है, तथा वस्तुओं को पहचान कर उनके भले बुरे रूप का विश्लेषण करता है। इसीमें सुख, दुःख के अनुभव करने की शक्ति वर्तमान है, संकल्प-विकल्प भी इसीमें पाये जाते हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावनाएँ; इच्छा-द्वेष प्रभृति वासनाएँ भी इसी में पायी जाती हैं। अतः मालूम होता है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मतत्व है। इस आत्मतत्व की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति सदा से करता चला आ रहा है। चाहे अज्ञानता के कारण कोई व्यक्ति भले ही भौतिक शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को न माने, पर अनुभव द्वारा उसकी प्रतीति सहज में प्रतिदिन होती रहती है।

हृदय का कार्य चिन्तन करना और बुद्धि का कार्य पदार्थों का निश्चय करना है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हृदय और

बुद्धि के द्वारा जो विभिन्न व्यापार होते हैं, इन दोनों के व्यापारों का एकत्र ज्ञान करने के लिये जो प्रत्यभिज्ञा करनी पड़ती है, उसे कौन करता है तथा उस प्रत्यभिज्ञा द्वारा इन्द्रियों को तदनुकूल दिशा कौन दिखलाता है। इन सारे कार्यों को करनेवाला मनुष्य का जड़ शरीर तो हो नहीं सकता; क्योंकि जब शरीर की चेतन क्रिया नष्ट हो जाती है, आत्मा शरीर से निकल जाता है, उस समय शरीर के रह जाने पर भी उपर्युक्त कार्य नहीं होते हैं।

कल जिसने कार्य किया था, आज भी वही मैं कार्य कर रहा हूँ, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान जड़ शरीर से उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि जड़ शरीर में प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। यह प्रत्यभिज्ञान की शक्ति शरीराधिष्ठित चेतन आत्मा के मानने पर ही सिद्ध हो सकती है। प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य में 'मैं' या 'अहं' भाव की उत्पत्ति भी इस बात की साक्षी है कि शरीर से भिन्न कोई चेतन पदार्थ भी है जो सदा 'अहं' का अनुभव करता रहता है। संभवतः कुछ भौतिकवादी यहाँ यह प्रश्न कर सकते हैं कि हृदय, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ,और शरीर इनके समुदाय का नाम ही 'अहं' या 'मैं' है; इनके समुदाय से भिन्न कोई 'अहं' या 'मैं' नहीं। पर विचार करने पर यह गलत मालूम होगा; क्योंकि किसी मशीन के भिन्न भिन्न कल पुर्जों के एकत्रित करने

पर भी उसमें गति नहीं आती है। जो गुण पृथक् पृथक् पदार्थों में नहीं पाया जाता है, वह पदार्थों के समुदाय में कहाँ से आ जायगा ? जब चेतन क्रिया के कार्य इन्द्रियाँ, बुद्धि, हृदय और शरीर में पृथक् पृथक् नहीं पाये जाते हैं, तो फिर ये एकत्रित होने पर कहाँ से आ जायँगे ?

तर्क से भी यह बात साबित होती है कि शरीर बुद्धि, हृदय और इन्द्रियों के समुदाय का व्यापार जिसके लिये होता है, वह इस संघात से भिन्न कोई अवश्य है, जो सब बातों को जानता है। वास्तव में शरीर तो एक कारखाना है, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, हृदय प्रभृति उसमें काम करनेवाले हैं; पर इस कारखाने का मालिक कोई भिन्न ही है जिसे आत्मा कहा जा सकता है। अतएव प्रतीत होता है कि मानव शरीर के भीतर भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके कारण वह विश्व के पदार्थों को जानता, तथा देखता है। क्योंकि यह शक्ति प्राणी में ही पायी जाती है। यद्यपि आजकल विज्ञान के द्वारा निर्मित अनेक मशीनों में चलने फिरने, दौड़ने और विभिन्न प्रकार के काम करने की शक्ति देखी जाती है; पर उनमें भी सोचने, विचारने और अनुभव करने की शक्ति नहीं पायी जाती।

सचेतन प्राणी ही लाभ, हानि, गुण, दोष आदि का पूरा-पूरा

विचार करता है, भौतिक पदार्थ नहीं। इसीलिये अनुभव के आधार पर यह डंके की चोट से कहा जा सकता है कि शरीर से भिन्न चेतन स्वरूप, अमूर्त्तिक अनेक गुणों का धारी आत्मतत्त्व है। यदि इस आत्मतत्त्व को न माना जाय तो स्मरण, विकार संकल्प, विकल्प आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सज्ञानी प्राणी ही पहले देखे हुए पदार्थ को देख कर कह देता है कि यह वही पदार्थ है जिसे मैंने अमुक समय में देखा था। मसीन या अन्य प्रकार के एंजिनों में इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यह स्मरण शक्ति ही बतलाती है कि पूर्व और उत्तर समय में देखने वाला एक ही है, जो आज भी वर्तमान है। इसी प्रकार ज्ञान, संकल्प, विकल्प, राग-द्वेष प्रभृति भावनाएँ, काम-क्रोध-मान आदि विकार भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। प्रमेय-रत्न-मालाकार ने आत्मा की सिद्धि निम्न प्रकार की है —

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥

अर्थ—तत्काल उत्पन्न हुए बालक को स्तन पीने की इच्छा होती है; इच्छा प्रत्यभिज्ञान के बिना नहीं हो सकती; प्रत्यभिज्ञान स्मरण के बिना नहीं हो सकता और स्मरण अनुभव के बिना नहीं होता है। अतः अनुभव करनेवाला

आत्मा है। अनेक व्यक्ति मरने पर व्यन्तर हो जाते हैं, वे स्वयं किसीके सिर आकर कहते हैं कि हम अमुक व्यक्ति हैं, इससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। अनेक व्यक्तियों को पूर्व जन्म का स्मरण भी होता है, यदि आत्मा अनादि नहीं होता तो फिर यह पूर्व भव—जन्म का स्मरण कैसे होता ? पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है अर्थात् अचेतन के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है; अतएव शरीर से भिन्न आत्मा है।

यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है, अपने प्राप्त शरीर के बराबर है तथा समस्त शरीर में आत्मा का अस्तित्व है; शरीर के किसी एक प्रदेश में आत्मा नहीं है, अविनाशी है, अत्यन्त आनन्द स्वभाव वाला है तथा लोक और अलोक को देखने-वाला है। इसमें संकोच और विस्तार की शक्ति है, जिससे जब शरीर छोटा होता है, तो यह छोटे आकार में व्याप्त रहता है और जब शरीर बड़ा हो जाता है तो यह बड़े आकार में व्याप्त हो जाता है। कविवर बनारसीदास ने आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है—

चेतनवंत अनंत गुन, पर्यय सकल अनंत ।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरब चिरवंत ॥

अर्थात---यह आत्मा चेतन है, अनन्त गुण और पर्यायों का धारी है। यह अमूर्तिक है, जिससे कोई इसे नहीं देख सकता है, यह अखंडित है, सभी प्राणियों में इसका अस्तित्व है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान करने से विषयों से विरक्ति होती है तथा आत्मिक उत्थान की ओर प्राणी अग्रसर होता है।

कल्लोळ्तोर्प पोगसुंवर्णद गुणं काष्टांगळोळ्तोपे के-
च्चेल्ला किच्चिन चिन्हवा केनेयिरल्पालोळ्घृतच्छायेयें ॥
देल्लर वर्णिपरंतुटी तनुविनोळ् चैतन्यमुं वोधमुं।
सोल्लुं जीवगुणंगळेंदरूपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पत्थर में जो कांति दिखलाई पड़ती है वह सोने का गुण है। वृक्षों में अग्नि का अस्तित्व है। खौलते हुए दूध में जो मलाई का अंश दिखाई पड़ता है वह घी का चिन्ह है। सब लोग ऐसा जानते हैं। ठीक इसी प्रकार इस शरीर में चेतन स्वभाव, ज्ञान और दर्शन जीव के गुण हैं। आपने ऐसा समझाया ॥५॥

विवेचन---इस शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप शक्ति आत्मा की है। अतः आत्मिक शक्ति का यथार्थ परिज्ञान कर बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिये। एक कवि ने कहा है----

आतम हित जो करत हैं, सो तनको अपकार।
जो तनका हित करत है, सो जिय का अपकार ॥

अर्थात्—जो तप, ध्यान, त्याग, पूजन आदि के द्वारा आत्मा का कल्याण किया जाता है, वह शरीर का अपकार है। क्योंकि विषय निवृत्ति से शरीर को कष्ट होता है; धनादि की वांछा का परित्याग करने से मोही प्राणी कष्ट का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि तप, ध्यान, वैराग्य से आत्म-कल्याण किया जाता है, इनसे शरीर का हित नहीं होता, अतः शरीर को पर वस्तु समझ कर उसके पोषण करनेवालों को धन, धान्य की वांछा नहीं करनी चाहिये। धन, धान्य आदि परिग्रह तथा विषय-वासनाओं द्वारा शरीर का हित होता है, पर ये सब आत्मा के लिये अपकारक है, अतः आत्मा के लिये हितकारक कार्यों को ही करना चाहिये।

इस प्राणी का आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं है, यह अशुद्ध अवस्था में शरीर में उस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि, दही में घी, तिलों में तैल, पुष्पों में सुगन्ध, पृथ्वी में जल का अस्तित्व रहता है। इतने पर भी यह शरीर से बिल्कुल भिन्न है। जिस प्रकार वृक्ष पर बैठनेवाला पक्षी वृक्ष से भिन्न है, शरीर पर धारण किया गया वस्त्र जैसे शरीर से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर में रहने पर भी आत्मा शरीर से भिन्न है। दूध और पानी मिल जाने पर जैसे एक द्रव्य प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से बद्ध आत्मा भी शरीररूप मालूम पड़ता

है। वास्तविक विचार करने पर यह आत्मा शरीर से भिन्न प्रतीत होगा। इसके स्वरूप, गुण आदि आत्मा के स्वरूप गुण की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं, आत्मा जहाँ चेतन है, शरीर वहाँ अचेतन; शरीर विनाशीक है, आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य; अतः शरीर में सर्वत्र व्यापी आत्मा को समझ कर अपना आध्यात्मिक क्रमिक विकास करना चाहिये।

यदि भ्रम वश कोई व्यक्ति लकड़ी को अग्नि समझ ले, पत्थर को सोना मान ले, मलाई को घी मान ले तो उसका कार्य नहीं चल सकता है; इसी प्रकार यदि कोई शरीर को ही आत्मा मान ले तो वह भी अपना यथार्थ कार्य नहीं कर सकता है तथा यह प्रतिभास मिथ्या भी माना जायगा। हाँ, जैसे लड़की में अग्नि का अस्तित्व, पत्थर में सोने का अस्तित्व, फूल में सुगंध का अस्तित्व सदा वर्तमान रहता है उसी प्रकार संसारावस्था में शरीर में आत्मा का अस्तित्व रहता है। प्रबुद्ध साधक का कर्तव्य है कि वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व के रहने पर भी, उससे भिन्न आत्मा को समझे। शरीर को अनित्य, क्षणध्वंसी समझ कर संसार में सुख, आनन्द, ज्ञान, दर्शन, रूप आत्मा ही उपादेय है; अतएव लोभ, मोह, माया, मान, क्रोध आदि विकारों को तथा वासनाओं को छोड़ना चाहिये।

जब जीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तो वह मृत्यु पर्यन्त भी भोगों से निवृत्ति नहीं होता; कविवर भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में बताया है—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

अर्थ—बुढ़ापे के कारण भोग भोगने की इच्छा नहीं रहती है, मान भी घट गया है, बराबरीवाले चल बसे—मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं, जो घनिष्ट मित्र अवशेष रह गये हैं वे भी अब बुड्ढे हो गये हैं। बिना लकड़ी के चला भी नहीं जा सकता, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। इतना सब होने पर भी हमारा शरीर कितना निर्लज्ज है कि अपनी मृत्यु की बात सुनकर चौंक पड़ता है। विषय भोगने की वांछा अब भी शेष है, तृष्णा अनन्त है, जिससे दिनरात सिर्फ मनसूबे बांधने में व्यतीत होते हैं।

यह जीवन विचित्र है, इसमें तनिक भी सुख नहीं। बाल्यावस्था खेलते-खेलते बिता दी, युवावस्था तरुणी नारी के साथ विषयों में गवाँ दी और वृद्धावस्था आने पर आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ बेकाम हो गयी हैं; जिससे घर बाहर का कोई भी आदर नहीं

करता है, बुढ़ापे के कारण चला भी नही जाता है। इस प्रकार की असमर्थ अवस्था में आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करना कठिन हो जाता है। शरीर में रहते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न समझ उसे पृथक् शुद्ध रूप में लाने का प्रयत्न करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। जैसे अशुद्ध, मलिन सोने को आग में तपा कर सोहागा डालने से शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार इस अशुद्ध आत्मा को भी त्याग और तप के द्वारा निर्मल किया जा सकता है। जो प्राणी यह समझ लेता है कि विषय भोग और वासनाएँ आत्मा की मलिनता को बढ़ाने वाली हैं वह इनका त्याग अवश्य करता है। यह जीव अनादिकाल से इन विषयों का सेवन करता चला आ रहा है, पर इनसे तनिक भी तृप्ति नहीं हुई; क्योंकि मोह और लोभ के कारण यह अपने रूप को भूले हुए हैं। कविवर दौलतरामजी ने कहा है।

मोह-महामद पियो अनादि । भूल आपको भरमत वादि ॥

अर्थ—संसारी जीव मोह के वश में होकर मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक गति में जन्म-मरण के दुःख उठा रहे हैं, इन्हें अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं। अतः विषय भोगों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

मत्ताकल्लने सोदिसल्कनकमं काण्वंते पालं क्रमं-
वेत्तोळ्पं मथनंगेयल् घृतमुमं काण्वंते काष्ठगळ्ं ॥
ओत्तंबं पोसेदग्नि काण्बतेरदिं मेय्बेरे वेरानेनु ।
त्तित्तभ्यासिसेलेम्न काण्बुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ॥६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार पत्थर के शोधने से सोना, दूध के क्रम पूर्वक मंथन से नवनीत तथा काष्ठ के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार 'शरीर अलग है और मैं अलग हूँ' इस भेद विज्ञान का अभ्यास करने से क्या अपने आप आत्मा को देख सकना असाध्य है ? ॥६॥

विवेचन —आत्मा और शरीर इन दोनों के स्वरूप-चिन्तवन द्वारा भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है, यह आत्मा पूर्वोपार्जित कर्म परम्परा के कारण इस शरीर को प्राप्त करता है, 'शरीर और आत्मा' इन दोनों के पृथकत्व चिन्तन द्वारा अनादि बद्ध आत्मा शुद्ध होता है। जीव जब यह समझ लेता है कि यह शरीर, ये सुन्दर वस्त्राभूषण, यह दिव्य रमणी, यह सुन्दर पुस्तक, यह सुन्दर कुरसी, यह सुन्दर भव्य प्रासाद—मकान, चमकते हुए सुन्दर वर्तन, यह बढ़िया टेबुल प्रभृति समस्त पदार्थ स्वभाव से जड़ हैं, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यह अपने चैतन्य सत स्वभाव में स्थित हो जाता है।

अज्ञानी मोही जीव मोह के कारण अपने साथ बन्धे हुए शरीर को और नहीं बन्धे हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि को अपना समझता है तथा यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी समझता है, पर वास्तव में यह बात नहीं है। ये शरीर, धन, सम्पत्ति, वैभव, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि पदार्थ आत्मा के नहीं; आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल जीव रूप नहीं हो सकता है। आत्मा शरीर से भिन्न अमूर्तिक, शुद्ध, बुद्ध ज्ञाता, द्रष्टा है।

देह और आत्मा के भेद ज्ञान को जानकर तथा मोहनी कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विकल्प जाल को त्याग कर, विकार रहित चैतन्य चमत्कारी आत्मा का अनुभव करना भेद विज्ञान है। भेद विज्ञानी अपनी बाह्य आंखों से शरीर को देखता है तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मा को देखता है। जो संसार में भ्रमण करने वाले जीव हैं उनकी दृष्टि और प्रवृत्ति इस देह की ओर होती है। इसीलिये किसीको धनी, किसीको दरिद्री, किसीको मोटा, किसीको दुबला, किसी को बलवान, किसीको कमजोर, किसीको सच्चा, किसीको झूठा, किसीको ज्ञानी, किसीको अज्ञानी के रूप में देखते हैं। पर ये सब आत्म के धर्म नहीं; यह व्यवहार केवल

शरीर, धन आदि बाह्य पदार्थों के निमित्त से होता है। जिसकी दृष्टि जैसी होगी, उसे वस्तु भी वैसी ही दिखलायी पड़ेगी। एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। जैसे एक सुन्दर स्वस्थ गाय को देखकर चमार कहेगा कि इसका चमड़ा सुन्दर है, कसाई कहेगा कि इसका मांस अच्छा है, ग्वाला कहेगा यह दूध देनेवाली है, किसान कहेगा कि इसके बछड़े बहुत मजबूत होंगे। कोई तत्वज्ञ कहेगा कि आत्मा की कैसी विचित्र-विचित्र प्रवृत्तियाँ हैं, कभी यह मनुष्य शरीर में आबद्ध रहता है तो कभी पशु शरीर में।

पुद्गल पदार्थों पर दृष्टि रखनेवाले को अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी देहरूप दिखलाई पड़ता है। आध्यात्मिक भेद विज्ञान की दृष्टिवाले को प्रत्यक्ष दिखलाई देनेवाला यह शरीर भी चैतन्य आत्मशक्ति की सत्ता का धारी तथा उसके विलास मन्दिर के रूप में दिखलायी पड़ता है। भेद-विज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही होता है। भेद विज्ञान द्वारा आत्मा के जान लेने पर भौतिक पदार्थों से आस्था हट जाती है, स्वामी कुन्दकुन्द ने समयसार में भेदविज्ञानी की दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

अर्थ—मैं निश्चय से शुद्ध हूँ, ज्ञान, दर्शन से पूर्ण हूँ। मैं अपने आत्मस्वरूप में स्थित एवं तन्मय होता हुआ भी इन सभी काम, क्रोधादि आस्रव भावों को नाश करता हूँ। जीव के साथ बन्धरूप क्रोधादि आस्रव भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, दुःखरूप हैं, ऐसा समझ कर भेद-विज्ञानी जीव इन भावों से अपने को हटाता है। भेद विज्ञान द्वारा एक मैं शुद्ध हूँ, चैतन्य निधि हूँ, कर्मों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरा स्वभाव त्रिकाल में भी किसीके द्वारा विकृत नहीं होता है।

मोह के विकार से उत्पन्न यह शरीर अथवा अन्य बाह्य पदार्थ जिनमें ममत्व बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, मेरे नहीं हैं। पौद्गलिक भाव मुझसे बिलकुल भिन्न हैं, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा स्वभाव इनके स्वभाव से विलक्षण है। मेरी शक्ति अच्छेद्य और अभेद्य है। प्रत्यक्ष से अनन्त एवं अनुपम सुख का भाण्डार यह आत्मा प्रतीत हो रहा है, वर्णादि या रागादि इससे पृथक् हैं जैसे घड़े में घी रखने पर भी घड़ा घी का नहीं हो जाता है या घी घड़े का रूप नहीं धारण करता है; उसी प्रकार आत्मा के इस शरीर में रहने पर भी पुद्गल का कोई भी रूप, रसादि गुण इसमें नहीं आता है और न आत्मा का चैतन्य गुण ही इस शरीर में पहुँचता है। आत्मा और शरीर कर्मबन्धन के कारण साथ रहते हुए भी

परस्पर में असम्बद्ध हैं। दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। संयोग सम्बन्ध है। जो कभी भी दूर किया जा सकता है। जब आत्मा मोह, क्षोभ के कारणीभूत इस शरीर को अपने से भिन्न मानने लगता है, तो निश्चय छूट जाता है।

मिथ्या मोह से मोहित आत्मा जबतक अपने को नहीं पहचानता है, तबतक कर्मबद्ध रहता है तथा कषाय और विकार रूपी चोर आत्मधन को चुराते रहते हैं। किन्तु जब यह आत्मा सजग हो जाता है तो चोर अपने आप भाग जाते हैं। आत्माधीन जितना सुख है वही वास्तविक है। पराधीन जितना सुख है, वह सब दुःखरूप है, अतः सुख को आत्माधीन करना चाहिये। भेद विज्ञानी आत्मा को सदा सजग, अमोही, निर्विकारी, शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, अविनाशी समझता है।

अगुष्टं मोदलागि नेत्तिवरेगं सर्वांग संपूर्ण नु-
त्तुंगज्ञानमयं सुदर्शनमयं चारित्र तेजो मयं ॥
मांगल्यं महिमं स्वयंभु सुखि निर्वाधं निरापेक्षि नि-
म्मंगंबोल्परमात्मनेंद रुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

चरण के अँगूठे से लेकर मस्तिष्क तक शरीर के प्रत्येक अवयव में परमात्मा विद्यमान है। वह ज्ञान—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्-

चारित्र या तेजस्वरूप; अतिशयवाला कर्मबद्ध होकर अपने स्वरूप में स्थित अनन्त शक्ति, अनन्त सुख आदि गुणों का धारी तथा विषय की आसक्ति रहित है। आपने ऐसा समझाया ॥७॥

विवेचन—आत्मा संकोच विस्तारकी शक्ति के कारण समस्त शरीर में है। यह जिस प्रकार के छोटे-बड़े शरीर में पहुँचता है, उतना ही बड़ा हो जाता है। जब यह हाथी के शरीर में पहुँचता है, तो हाथी के शरीर के बराबर हो जाता है। जब चींटी के शरीर में पहुँचता है तो चींटी के शरीर के बराबर हो जाता है। अतः जिस प्रकार शरीर विकसित होता जाता है, वैसे आत्म-प्रदेश भी विकसित होते जाते हैं। बच्चा जब छोटा रहता है तो आत्मा के प्रदेश उसके उस छोटे से शरीर में व्याप्त रहते हैं पर जब वही बच्चा बड़ा हो जाता है तो आत्मा के प्रदेश विकसित होकर उसके बड़े शरीर के प्रमाण हो जाते हैं।

आत्म-प्रदेश शरीर के किसी एक हिस्से में नहीं हैं, किन्तु समस्त शरीर में हैं। कुछ दार्शनिक आत्मा को वट-बीज समान लघु मानते हैं तथा वे कहते हैं कि इस आत्मा की गति बड़ी तेजी से होती है जिससे शरीर के जिस हिस्से में सुख-दुःख के अनुभव करने की आवश्यकता होती है, वहाँ यह पहुँच जाता है। हर एक क्षण यह आत्मा घूमता रहता है, एक क्षण के लिये भी इसे

विश्राम नहीं। आचार्य ने इस मिथ्या धारणा का खण्डन करने के लिये आत्मा को समस्त शरीर व्यापी बतलाया है। जैसे दूध में घी, तिल में तैल और पुष्प में सुगन्ध सर्वत्र रहती हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर के प्रत्येक अवयव में वर्तमान है। यह वट-कणिका के समान कभी नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी प्रिय वस्तु के मिल जाने पर सर्वाङ्गीण सुख के अनुभव का अभाव हो जायेगा। प्रसन्नता होने पर सर्वाङ्गीण सुख एक ही क्षण में अनुभव गम्य है, अतः आत्मा को शरीर व्यापी मानना चाहिये।

आत्मा के निवास के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त है कि आत्मा व्यापी और विराट् है। यह कहता है कि आत्मा एक अखण्ड अमूर्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के समस्त शरीर में व्याप्त है तथा शरीर से बाहर भी समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। एक ही विराट् ब्रह्म संसार के सभी प्राणियों में वर्तमान है।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आत्मा शरीर से बाहर नहीं रहता है तथा सभी प्राणियों के शरीर में एक ही आत्मा नहीं है। यदि सभी के शरीर में एक ही आत्मा होता तो जिस समय एक व्यक्ति को सुख होता है, उस समय सभी व्यक्तियों को सुख होना चाहिये; क्योंकि सभी के शरीर में अनुभव करनेवाला आत्मा एक ही है। यदि एक व्यक्ति को

दुःख होता है तो सभी को दुःख होना चाहिये; क्योंकि सभी का आत्मा एक है। परन्तु सभी को एक साथ दुःख या सुख नहीं देखा जाता है, अतः एक विश्व व्यापी विराट् आत्मा की स्थिति बुद्धि नहीं स्वीकार करती है। इसलिये आत्मा एक अखण्ड, अमूर्तिक पदार्थ है यह समस्त शरीर में व्याप्त है, शरीर से बाहर इसकी स्थिति नहीं है और न यह शरीर के किसी एक भाग में केन्द्रित है।

प्रत्येक शरीर स्थित आत्मा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से परमात्म स्वरूप है। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वर्तमान हैं। कर्म बन्ध के कारण ये गुण आत्मा के आच्छादित हैं, इसलिये परमात्म-पद की प्राप्ति नहीं हो रही है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता वर्तमान है। इसलिये यहाँ एक परमात्मा नहीं हैं, अनेक परमात्मा हैं। आत्मा के वास्तविक गुणों की अभिव्यक्ति हो जाने पर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र का धारी आत्मा जब निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर आत्मा में लीन हो जाता है, उस समय उसके कर्मों का बन्ध नहीं होता। यदि यह निर्विकल्पक समाधि अन्तर्मुहूर्त्त काल (२४ मिनट) तक ठहर जाय तो फिर इस जीव को परमात्मा

बननेमें देर न लगे। कविवर बनारसीदास ने निम्न पद्य में बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक चित्रण किया है। कविने यह बतलाने का प्रयास किया है कि ज्ञान, दर्शन का अनुभव करनेवाला आत्मा परमात्मा किस प्रकार बन जाता है तथा उसकी दृष्टि किस प्रकार की हो जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की प्राप्ति हो जाने पर परपरिणति बिल्कुल हट जाती है, मनवाञ्छित भोगोपभोग उसे विनाशीक, अहित कारक दिखलायी पड़ने लगते हैं। वह सब कुछ करता हुआ भी संसार से पृथक् रहता है। कवि कहता है—

ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर, ज्योति जगी मति होय न मैली।
बाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतम ध्यान कलाविधि फैली॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखै सु विवेक लिये परखै गुन थैली।
ते जगमें परमारथ जानि गहै रुचि मानि अध्यातम सैली॥

निर्वाण प्राप्ति में साधक रत्नत्रय को जो कि आत्मा का गुण है, अपने में जाग्रत करना चाहिये। नानाप्रकार के संक्लेश सहने से, कषायों में लिप्त रहने से, अज्ञानता पूर्वक तपस्या करने से परमात्म पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य दुःख से घबड़ाकर सुख की अभिलाषा करता है, यह सुख कहीं बाहर नहीं है अपने आत्मा में ही है; जब आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है, तो इसके सभी दुःख मिट जाते हैं। अपने स्वरूप को

भूल जाने से ही आत्मा को कष्ट है। यह मानी हुई बात है कि जबतक कोई भी व्यक्ति परवस्तु को अपनी मानता है, तबतक वह परवस्तु के ह्रास, विनाश, विकास में दुखी, सुखी होता है। किन्तु जिस क्षण उसे यह मालूम हो जाता है कि यह वस्तु मेरी नहीं है, उसी क्षण उसका विषाद नष्ट हो जाता है। अतः आत्म-दृष्टि प्राप्त हो जाने का सीधा साधा अर्थ यही है कि अपने को अपने रूप में और पर को पर रूप में समझें। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के ग्रहण करने योग्य जो रूपादि विषय हैं, उन्हें परवस्तु समझ कर त्याग देना और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख के रस का अनुभव करना यही साधक का कर्तव्य है। ध्यान लगाकर आत्मा का चिन्तन करने से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

बिसिलिं कंदद बेंकियं सुडद नीरं नांददुम्रासि भे-
दिसलुं बारद चिन्मयं मरेदु तन्नोळ्पं परध्यानदिं ॥
पसिविंदी बहुबाधेयिं रुजेगळ केडागुवीमैयूगेसं-
दिसिदं तन्नने चिंतिसल्सुखियला ! रत्नाकरा धीश्वरा ॥८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

धूप से कभी निस्तेज न होनेवाला, अग्नि से भस्म न होनेवाला, पानी से कभी भिगलित न हो सकने वाला, तीक्ष्ण तलवार से न कटने

वाला ज्ञान और दर्शन स्वरूप आत्म तत्व है। वह परवस्तु की चिन्ता से रहित है। मनुष्य, अपने स्वरूप को ज्ञात कर, भूख-प्यास आदि बाधाओं से युक्त नाशवान् शरीर को प्राप्त कर भी, यदि अपने स्वरूप का ध्यान करे तो क्या सुख नहीं हो सकता ? ॥८॥

विवेचन—यह आत्मा अमर है। यह अनादि, स्वतः सिद्ध, उपाधि हीन एवं निर्दोष है। इसलिये तीक्ष्ण शस्त्रों से इसका छेद नहीं हो सकता। जलप्लावन से यह भींग नहीं सकता और न आग इसको जला सकती है। पवन की शोषक शक्ति इसे सुखा नहीं सकती। धूप कभी निस्तेज नहीं कर सकता है। यह अविनाशी, स्थिर, और शाश्वत है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सम्यक्त्व, अगुरु लघुत्व आदि आठ गुण इस आत्मा में विद्यमान हैं। ये गुण इस आत्मा के स्वभाव हैं, आत्मा से अलग नहीं हो सकते हैं। जो व्यक्ति इस शरीर को प्राप्त कर आत्मा की साधना करता है, ध्यान करता है वह इसे अवश्य प्राप्त कर सकता है।

शरीर के नाश होने पर भी यह आत्मा इस प्रकार नष्ट नहीं होता जैसे मकान के अन्दर का आकाश जो मकान के आकार का होता है, मकान गिरा देने पर भी मूल स्वरूप में ज्यों का त्यों अविकृत रहता है। ठीक इसी प्रकार शरीर के नाश हो जाने पर भी आत्मा नित्य ज्यों का त्यों रहता है। इसलिये आचार्य ने

इसका, वीतराग, चिदानन्द, अखण्ड, अमूर्त्तिक, सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, अनुभव रूप अभेद रत्नत्रय, लक्षण बताया है। मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति रूप समाधि में लीन निश्चयनय से निज आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है। अतः आत्मा ही ध्यान करने योग्य है। जैसे दाख चन्दन, इलायची, बादाम आदि पदार्थों से बनायी गयी ठंढाई अनेक रस रूप है, फिर भी अभेदनय की अपेक्षा से एक ठंढाई ही कहलाती है, इसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक है।

निर्मल आत्मा का ध्यान करने से ही अन्तमुहूर्त में निर्वाण-पद की प्राप्ति हो जाती है। जब समस्त शुभाशुभ विकल्प-संकल्पों को छोड़ आत्मा निर्विकल्पक समाधि में लीन हो जाता है, तो समस्त कर्मों की शृंखला टूट जाती है। यद्यपि इस पंचम काल में शुक्ल ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर भी धर्म ध्यान के द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है। ध्यान का वास्तविक अर्थ यही है कि समस्त चिन्ताओं, संकल्प-विकल्पों को रोक कर मन को स्थिर करना; आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्य से आत्मा को भिन्न विचारना और आत्म स्वरूप में

स्थिर होना। विशुद्ध ध्यान के द्वारा ही कर्मरूपी ईन्धन को भस्म कर स्वयं साक्षात् परमात्मस्वरूप आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के समस्त गुण ध्यान के द्वारा ही प्रकट होते हैं। ध्यान करने से मन, वचन और शरीर की शुद्धि हो जाती है। मन के आधीन हो जाने से इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं। श्री शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में मन के रोकने पर विशेष जोर दिया है—

एक एव मनोरोध सर्वाभ्युदय साधकः ।
यमेवालम्ब्य: संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥
मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥
ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥

अर्थ—एक मन का रोकना ही समस्त अभ्युदयों को सिद्ध करनेवाला है; क्योंकि मनोरोध का आलम्बन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयता को प्राप्त होते हैं। स्वात्मानुभूति द्वारा मन की चंचलता रोकी जा सकती है। जो मन को शुद्ध कर लेते हैं, वे अपनी सब प्रकार से शुद्धि कर लेते हैं। मन की शुद्धि के बिना शरीर को कष्ट देना या तपश्चरण द्वारा कृश करना व्यर्थ है।

मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धता को ही नहीं करती है, किन्तु जीवों के कर्म-जाल को भी काटती है। जिसका मन स्थिर हो कर आत्मा में लीन हो जाता है, वह परमात्मपद को अवश्य प्राप्त हो जाता है। मन को स्थिर करने के लिये ध्यान ही साधन है।

जैन-दर्शन में ध्यान के चार भेद कहे गये हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें से पहले के दो ध्यान पापास्रव का कारण होने से अप्रशस्त हैं तथा आगेवाले दो ध्यान कर्म नष्ट करने में समर्थ होने के कारण प्रशस्त हैं। आर्त्त-ध्यान के चार भेद हैं। दुःखावस्था को प्राप्त जीव का जो ध्यान (चिन्तन) है, उसको आर्त्तध्यान कहते हैं। अनिष्टपदार्थों के संयोग हो जाने पर उस अर्थ को दूर करने के लिये बार-बार विचार करना अनिष्टसंयोग नाम का आर्त्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि इष्ट पदार्थों के नष्ट हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिये बार-बार विचारना इष्टवियोग नाम का दूसरा आर्त्तध्यान है। रोगादि के होने पर उसको दूर करने के लिये बार-बार विचार करना सो वेदनाजन्य तृतीय आर्त्तध्यान है। रोग के होने पर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है इसका नाश कब होगा, इस प्रकार सदा रोगजन्य दुःख का विचार करते रहना तीसरा

आर्त्तध्यान है। भविष्य काल में भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा को मन में बार-बार लाना निदानज नाम का चौथा आर्त्तध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषयसंरक्षण—विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति इन चार के सम्बन्ध में चिन्तन करने से रौद्र ध्यान होता है। इस ध्यान के भी चार भेद हैं—जीवों के समूह को अपने तथा अन्य द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किये जाने पर एवं कष्ट पहुँचाये जाने पर जो चिन्तन किया जाता है या हर्ष मनाया जाता है उसे हिंसान्द नामक रौद्रध्यान कहते हैं। यह ध्यान निर्दयी, क्रोधी, मानी, कुशील सेवी, नास्तिक एवं उद्दीप्त कषायवाले के होता है। शत्रु से बदला लेने का चिन्तन करना, युद्ध में प्राणघात किये गये दृश्य का चिन्तन करना एवं किसीको मारने, पीटने, कष्ट पहुँचाने आदि के उपायों का विचार करना भी हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। इस ध्यानवाले के परिणाम सर्वथा हिंसक रहते हैं। इसलिये इस ध्यानवाला नरकगामी होता है।

झूठी कल्पनाओं के समूह से पापरूपी मैल से मलिन चित्त होकर जो कुछ चिन्तन करता है, वह मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। मैं अपनी असत्य की चतुराई के प्रभाव से नाना प्रकार से धन ग्रहण करूँगा, ठगविद्या के प्रभाव से अपने कार्य की सिद्धि कर लूँगा, दुश्मनों को धोखा देकर अपने आधीन कर लूँगा,

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मूढ़ जनों को संकट में डाल दूँगा, इत्यादि मनसूबे बांधना, दिन रात चिन्तवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है।

चोरी करने की युक्तियाँ सोचते रहना, परधन या सुन्दर पर-वस्तु को हड़पने की दिन रात चिन्ता करते रहना चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। सांसारिक विषय भोगने के लिए चिन्तन करना विषय भोगने की सामग्री एकत्रित करने के लिये विचार करना एवं धन-सम्पत्ति आदि को प्राप्त करने के साधनों का चिन्तन करना विषय संरक्षण नामक रौद्रध्यान होता है। आर्त और रौद्र दोनों ही ध्यान आत्म कल्याण में बाधक हैं। इनसे आत्म-स्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा स्वपरिणति लुप्त होकर पर-परिणति उत्पन्न हो जाती है। ये दोनों ही ध्यान दुर्ध्यान कह-लाते हैं, ये अनादि काल से संस्कार के बिना भी होते रहते हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।

धर्मध्यान के चार भेद बताये हैं। जिनागम के अनुसार तत्त्वों का विचार करना आज्ञविचय; अपने तथा दूसरों के राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को नाश करने का उपाय चिन्तन करना अपाय विचय; अपने तथा दूसरों के सुख-दुख देखकर कर्म प्रकृतियों के स्वरूप का चिन्तन करना विपाक विचय एवं लोक के स्वरूप का

विचार करना संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है। इस संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान के चार भेद हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है। इसके लिये पाँच धारणाएँ बतायी गयी है, पार्थिवी, आग्नेय, वायवी, जलीय और तत्त्वरूपवती। पार्थिवी धारणा में एक बड़ा मध्यलोक के समान निर्मल जल का समुद्र चिन्तन करे। उसके मध्य में जम्बू-द्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तेवाले तपे हुए स्वर्ण के समान रंग के कमल का चिन्तन करे। कर्णिका के बीच में सुमेरु पर्वत का चिन्तन करे। उस सुमेरु पर्वत के ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला का चिन्तन करे। उस पर स्फटिक मणि का आसन विचारे तथा उस आसन पर पद्मासन लगा कर अपने को ध्यान करते हुए कर्म नष्ट करने के लिये विचारे। इतना चिन्तन बार-बार करना पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी धारणा—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह विचारे कि मेरे नाभि कमल के स्थान पर भीतर ऊपर को उठा हुआ सोलह पत्तों का एक सफेद रंग का कमल है। उस पर पीत रंग के सोलह स्वर लिखे हैं। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए

ऐ ओ औ अं अः बीच में 'हँ' लिखा है। दूसरा कमल हृदय स्थान पर नाभि कमल के ऊपर आठ पत्तों का औंधा विचार करना चाहिये। इस कमल को ज्ञानावरणादि आठ पत्तों का कमल मानना चाहिये।

पश्चात् नाभि कमल के बीच में जहाँ 'हँ' लिखा है, उसके रेफ से धुँआ निकलता हुआ सोचे। पुनः अग्नि की शिखा उठती हुई सोचे। यह लौ उपर उठकर आठ कर्मों के कमल को जलाने लगी। कमल के बीच से फूटकर अग्नि की लौ मस्तक पर आ गयी, इसका आधा भाग शरीर के एक तरफ और शेष आधा भाग शरीर के दूसरी तरफ निकल कर दोनों के कोने मिल गये। अग्निमय त्रिकोण सब प्रकार से शरीर को वेष्टित किये हुए है। इस त्रिकोण में र र र र र र र र अक्षरों को अग्निमय फैले हुए विचारे. अर्थात् इस त्रिकोण के तीनों कोण अग्निमय र र र अक्षरों के बने हुए हैं। इसके बाहरी तीनों कोणों पर अग्निमय साथियां तथा भीतरी तीनों कोणों पर अग्निमय ॐ हँ लिखा सोचे। पश्चात् सोचे कि भीतरी अग्नि की ज्वाला कर्मों को और बाहरी अग्नि की ज्वाला शरीर को जला रही है। जलतेजलते कर्म और शरीर दोनों ही जलकर राख हो गये हैं तथा अग्नि की ज्वाला शान्त हो गयी अथवा पहले के रेफ में समा गयी है, जहाँ से वह उठी

थी। इतना अभ्यास करना अग्नि धारणा है।

वायु-धारणा --फिर साधक चिन्तन करे कि मेरे चारों ओर बड़ी प्रचण्ड वायु चल रही है। इस वायु का एक गोला मण्डलाकार बनकर मुझे चारों ओर से घेरे हुए है। इस मण्डल में आठ जगह 'स्वाय स्वाय' लिखा है। यह वायु मंडल कर्म तथा शरीर की रज को उड़ा रहा है, आत्मा स्वच्छ व निर्मल होता जा रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना वायु-धारणा है।

जल-धारणा--पश्चात् चिन्तन करे कि आकाश में मेघों की घटाएँ आ गयीं, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोर की वृष्टि होने लगी है। पानी का अपने ऊपर एक अर्धचन्द्राकार मण्डल बन गया है, जिस पर प प प प कई स्थानों पर लिखा है। ये पानी की धाराएँ आत्मा के ऊपर लगी हुई कर्म-रज को धोकर आत्मा को साफ कर रही हैं। इस प्रकार चिन्तवन करना जल धारणा है।

तत्वरूपवती धारणा--वही साधक चिन्तवन करे कि अब मैं सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, कर्म तथा शरीर से रहित, चैतन्य आत्मा हूँ। पुरुषाकार चैतन्य धातु की बनो शुद्ध मूर्ति के समान हूँ। पूर्ण चन्द्रमा के समान ज्योतिरूप देदीप्यमान हूँ।

क्रमशः इन पाँचों धारणाओं द्वारा पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। तथा ध्यान के अनन्तर कुछ समय तक शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये। यह ध्यान आत्मा के कलंक-पंक को दूर कर उसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणों को विकसित करता है।

पदस्थ ध्यान—मन्त्र पदों के द्वारा अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय साधु तथा आत्मा का स्वरूप विचारना पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान—नासिकाग्र या भृकुटि के मध्य में मन्त्र को विराजमान कर उसको देखते हुए चित्त को जमाना तथा उनका स्वरूप चिन्तन करना चाहिये। इस ध्यान में इस बात का चिन्तन करना भी आवश्यक है कि शुद्ध होने के लिये जो शुद्ध आत्माओं का चिन्तन किया जा रहा है, वह कर्मरज को दूर करने वाला है। इस ध्यान का सरल और साध्य रूप यह है कि हृदय में आठ पत्तों के कमल का चिन्तन करे। इन आठ पत्तों में से पाँच पत्तों पर क्रमशः 'णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' लिखा चिन्तन करे तथा शेष तीन पत्तों पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः और सम्यक्‌चारित्राय नमः लिखा हुआ सोचे। इस प्रकार एक-एक पत्ते पर लिखे हुए मन्त्र का ध्यान जितने समय तक कर सके, करे।

रूपस्थ ध्यान—अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का विचार करे कि वे समवशरण में द्वादश सभाओं के मध्य में ध्यानस्थ विराजमान हैं। वे अनन्त चतुष्टय सहित परम वीतरागी हैं। अथवा ध्यानस्थ जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति का एकाग्र चित्त से ध्यान करे, पश्चात् उसके द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप का चिन्तन करे।

रूपातीत—सिद्धों के गुणों का विचार करे कि सिद्ध अमूर्तिक, चैतन्य, पुरुषाकार, कृतकृत्य, परम शान्त, निष्कलंक, अष्ट कर्म रहित, सम्यक्त्वादि आठगुण सहित, निर्लेप, निर्विकार एवं लोकाग्र में विराजमान हैं। पश्चात् अपने आपको सिद्ध स्वरूप समझ कर ध्यान करे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, निरञ्जन हूँ, कर्म रहित हूँ, शिव हूँ इस प्रकार अपने स्वरूप में लीन हो जावे।

शुक्ल ध्यान—आत्मा में कषायों के उपशम या क्षय होने से उत्पन्न होता है। इस ध्यान के उत्पन्न होने पर ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद मिट जाता है।

ध्यान प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायंकाल में ४८ मिनट तक करना चाहिये। ध्यान के लिये स्थान एकान्त, कोलाहल से रहित, वेश्याओं, स्त्रियों, नपुंसकों के आगमन से रहित होना चाहिये। इस स्थान के आस पास गायन, वादन, नृत्य, संगीत

आदि का संचार न होना चाहिये। डांस, मच्छर अधिक न होने चाहिये तथा अन्य किसी प्रकार की बाधा भी न होनी चाहिये। चटाई या पाषाण की शिला पर अथवा स्वच्छ भूमि में पद्मासन लगा कर ध्यान करना चाहिये।

प्रसन्न मन से एकाग्र चित्त होकर नासिकाग्र भाग की ओर दृष्टि रखकर ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान करने के पूर्व शरीर को पवित्र कर संसार के कार्यों से विरक्त हो पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा हो जाय और हाथ नीचे किये हुए नौ बार णमोकार मंत्र का जाप कर उस दिशा में भूमि से मस्तक लगा कर नमस्कार करे। मन में यह प्रतिज्ञा करले कि जब तक इस आसन से नहीं हटूंगा, मेरे शरीर के ऊपर जो वस्त्रादि हैं, उन्हें छोड़ समस्त परिग्रह का त्याग है। पश्चात् णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। इसका अभिप्राय यह है कि इस दिशा के जितने भी वन्दनीय तीर्थ, धर्मस्थान, अरिहन्त, साधु आदि हैं उन्हें मन वचन, काय से नमस्कार करता हूँ।

इस विधि से शेष तीनों दिशाओं में भी खड़े हो कर णमोकार मन्त्र का नौ बार जाप करे तथा प्रत्येक दिशा में तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। पश्चात् जिधर मुख करके खड़ा हुआ था,

उधर ही आकर बैठ जाय और ४८ मिनट तक ध्यान करता रहे। प्रारम्भ में ध्यान करते समय उपयोग स्थिर नहीं रहता है, पर पीछे कुछ दिनों के अभ्यास के बाद उपयोग स्थिर हो जाता है। इस प्रकार ध्यान द्वारा आत्मा की स्वरूप प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान वस्तुतः कर्म नाश करने में प्रधान कारण है।

वडलेंवी जडनं लयप्रकरनं निश्चेष्ठनं दुष्टनं।
पडिमातें पेणनं महात्मनहहा तन्नोंदु सामर्थ्यदिं॥
नडेयिप्पं रथिकंवोलें नुडियिपं मार्दंगिकंबोल्बिसु-
विल्कुवं जोहटि गंबोलें कुशलनो ! रत्नाकराधीश्वरा॥६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

नाश के व्यापार की परम्परा से रहित होकर भी जड़ शरीर को प्राप्त कर यह चेतन आत्मा उसका संचालक है, जैसे चेतन सारथी जड़ रथ में बैठकर उसका संचालन करता है उसी प्रकार आत्मा ही इस शरीर का संचालन कर रहा है अर्थात् आत्मा शरीर के सम्बन्ध से नाना प्रकार के कार्यों को करता है॥९॥

विवेचन----अनादि कालीन कर्मों के सम्बन्ध से इस आत्मा को शरीर की प्राप्ति होती चली आ रही है। कभी इसे एकेन्द्रिय जीव का शरीर मिला, कभी दो इन्द्रिय जीव का, कभी तीन इन्द्रिय जीव का, कभी चार इन्द्रिय जीव का शरीर मिला है। इस

मनुष्य भव में पञ्चेन्द्रिय शरीर बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है। इस शरीर को प्राप्त कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। इस पौद्गलिक शरीर का संचालक चैतन्य आत्मा ही है जब तक इसके साथ आत्मा का संयोग है, तब तक यह नाना प्रकार के कार्य करता है। आत्मा के अलग होते ही इस शरीर की संज्ञा मुर्दा हो जाती है।

शरीर के भीतर रहने पर भी आत्मा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसका ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव सदा वर्तमान रहता है। परमात्म प्रकाश में बताया है कि यह जीव शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से सदा चिदानन्द स्वभाव है, पर व्यवहार नय की अपेक्षा से वीत-राग-निर्विकल्प-स्वसंवेदन-ज्ञान के अभाव के कारण रागादिरूप परिणमन करने से शुभाशुभ कर्मों का आस्रव कर पुण्यवान् और पापी होता है। यद्यपि व्यवहार नय से यह पुण्य-पाप रूप है, पर परमात्मा की अनुभूति से बाह्य पदार्थों की इच्छा को रोक देने के कारण उपादेय रूप परमात्मपद को पुरुषार्थ द्वारा यह प्राप्त कर लेता है।

संसारी जीव शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जित ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों के कारण नर नरकादि पर्यायों में उत्पन्न होता है, विनशता है और आप ही शुद्ध ज्ञान से रहित होकर कर्मों को बांधता

है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शक्ति रूप में यह शुद्ध है, कर्मों से उत्पन्न नर नरकादि पर्यायें नहीं होती हैं और स्वयं भी यह जीव किसी कर्म को नहीं बांधता है। केवल व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव में कर्मों का बन्ध होता है, संसार चलता है। जब तक व्यवहार के ऊपर दृष्टि रहती है तब तक यह जीव संसार में भ्रमण करता है, पर जब व्यवहार को छोड़ निश्चय पर आरूढ़ हो जाता है, उस समय संसार छूट जाता है। यों तो व्यवहार और निश्चय सापेक्ष हैं। जब तक साधक की दृष्टि परिष्कृत नहीं हुई है तब तक उसे दोनों दृष्टियों का अवलम्बन करना आवश्यक है।

जब आत्मा की दृढ़ आस्था हो जाती है, दृष्टि परिष्कृत हो जाती है और तत्त्वज्ञान का आविर्भाव हो जाता है; उस समय साधक केवल निश्चय दृष्टि को प्राप्त कर आत्मा को शुद्ध बुद्ध, चेतन समझता हुआ इस कर्म सन्तति को नष्ट कर देता है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है, इसे प्राप्त कर साधना द्वारा कर्म सन्तति को अवश्य नष्ट कर स्वतंत्र होना चाहिये। यह मनुष्य शरीर आत्मा की प्राप्ति में बड़ा सहायक है।

बीळिदर्प तनुवेंब पंदोवल कूर्पासंगळं तोट्टुता-
नेळिदर्प तनुगूडि संचरिपना मेयूर्गूडि तन्नोळ्पुमं ॥

केळिदर्पं तनुगूडि तत्तनुगे जीवं पेसि सुज्ञानदिं ।

पोळ्दर्पं शिवनागियें चदुरनो ! रत्नाकराधीश्वरा ॥१०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा शरीर रूपी गीले चमड़े के कवच को धारण किए हुए है; क्योंकि कर्मों के कारण आत्मा शरीर के साथ संचरण करता है। अपने रूप का विचार करने एवं शरीर की जुगुप्सा करने से सज्ज्ञान में प्रवेश करता है। इस आत्मा की शक्ति अपरिगणनीय है ॥१०॥

विवेचन—आत्मा के साथ अनादि कालीन कर्म प्रवाह के कारण सूक्ष्म कार्माण शरीर रहता है, जिससे यह शरीर में आबद्ध दिखलायी पड़ता है। मन, वचन और काय की क्रिया के कारण कषाय—राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि भावों के निमित्त से कर्मपरमाणु आत्मा के साथ बंधते हैं। योग शक्ति जैसी तीव्र या मन्द होती है वैसी ही संख्या में कम या अधिक कर्मपरमाणु आत्मा की ओर खिंच कर आते हैं। जब योग उत्कृष्ट रहता है उस समय कर्मपरमाणु अधिक तादाद में और जब योग जघन्य होता है, उस समय कर्मपरमाणु कम तादाद में जीव की ओर आते हैं। इसी प्रकार तीव्र कषाय के होने पर कर्मपरमाणु अधिक समय तक आत्मा के साथ रहते हैं तथा तीव्र फल देते हैं। मन्द कषाय के होने पर कम समय तक रहते हैं और मन्द ही फल देते हैं।

योग और कषाय के निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म बन्धते हैं तथा इनका समुदाय कार्माण शरीर कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को घातता है, इसी वजह से जीवों के ज्ञान में तारतम्यता देखी जाती है; कोई विशेष ज्ञानी होता है तो कोई अल्पज्ञानी। दर्शनावरण जीव के दर्शन गुण को प्रकट होने में रुकावट डालता है। क्षयोपशम से जीव में दर्शन गुण की तारतम्यता देखी जाती है। वेदनीय के उदय से जीव को सुख और दुःख का अनुभव होता है; मोहनीय के उदय से जीव मोहित होता है, इसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के उदय से जीव को सच्चे मार्ग की प्रतीति नहीं होती है, उसे आत्मकल्याणकारी मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता है। यही आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण को रोकता है आत्मा और उसमें मिले कर्मों के स्वरूप की दृढ़ आस्था जीव में यही कर्म नहीं होने देता है। चारित्र मोहनीय का उदय जीव को कल्याणकारी मार्ग पर चलने में रुकावट डालता है। दर्शन मोहनीय के उपशम या क्षय होने पर जीव को सच्चे मार्ग का भान भी हो जाय तो भी यह कर्म उसको उस मार्ग का अनुसरण करने में बाधक बनता है।

आयु कर्म जीव को किसी निश्चित समय तक मनुष्य, तिर्यञ्च देव और नारकी के शरीर में रोके रहता है। उसके समाप्त या बीच में छिन्न हो जाने से जीव की मृत्यु कही जाती है। नाम कर्म के निमित्त से जीव के अच्छा या बुरा शरीर तथा छोटे-बड़े सम-विषम, सूक्ष्म-स्थूल, हीनाधिक आदि नाना प्रकार के अंगोपांग की रचना होती है। गोत्र कर्म के निमित्त से जीव उच्च या नीच कुल में पैदा हुआ कहा जाता है। अन्तराय के कारण इस जीव को इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आती है। इस प्रकार इन आठों कर्मों के कारण जीव शरीर धारण करता है, इस शरीर में किसी निश्चित समय तक रहता है, सुख या दुख का अनुभव भी करता है। इसे अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में नाना प्रकार की रुकावटें भी आती हैं। संसार में इस तरह कर्मों का ही नाटक होता रहता है।

पुरुषार्थी साधक इस कर्म लीला से बचने के लिये अपनी साधना द्वारा उदय में आने के पहले ही कर्मों को नष्ट कर देते हैं। इस कर्म प्रक्रिया के अवलोकन से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि इस संसार का रचयिता कोई नहीं है, किन्तु स्वभावानुसार संसार के सारे पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं।

जैनागम में मूलतः कर्म के दो भेद बताये हैं—द्रव्य और भाव। मोह के निमित से जीव के राग, द्वेष, क्रोधादि रूप जो

परिणाम होते हैं, वे भावकर्म तथा इन भावों के निमित्त से जो कर्मरूप परिणमन करने की शक्ति रखनेवाले पुद्गल परमाणु खिंचकर आत्मा से चिपट जाते हैं वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्म इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। द्रव्यकर्मों के निमित्त से भावकर्म और भावकर्मों के निमित्त से दव्यकर्म बंधते हैं। द्रव्यकर्म के मूल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेद हैं। उत्तर भेद ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवे, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद हैं। उपर्युक्त आठ कर्मों के भी घातिया और अघातिया ये दो भेद हैं।

घातिया कर्मों के भी दो भेद हैं —सर्वघाती और देशघाती। जो जीव के गुणों का पूरी तरह से घात करते हैं, उन्हें सर्वघाती और जो कर्म एक देश घात करते हैं, उन्हें देशघाती कहते हैं। ज्ञानावरण की ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की ९ प्रकृतियाँ, मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ और अन्तराय की ५ प्रकृतियाँ इस प्रकार कुल ४७ प्रकृतियाँ घातिया कर्मों की हैं। इनमें से २६ देशघाती और २१ सर्वघाती कहलाती हैं। घातिया कर्म पाप कर्म माने गये हैं। इन कर्मों का फल सर्वदा जीव के लिये अकल्याणकारी ही होता है। इनके कारण जीव सदा उत्तरोत्तर

कर्मबन्ध को करता ही रहता है। अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं।

जीव की ओर आकृष्ट होनेवाले कर्म परमाणुओं में प्रारंभ से लेकर अन्त तक मुख्य दश क्रियाएँ—अवस्थाएँ होतीं हैं। इनके नाम बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा संक्रमण, निधत्ति और निकाचना हैं।

बन्ध—जीव के साथ कर्म परमाणुओं का सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार भेद हैं। यह सब से पहली अवस्था है, इसके बिना अन्य कोई अवस्था कर्मों में नहीं हो सकती है।

इस प्रथम अवस्था में कर्म बन्ध होने के पश्चात् योग और कषाय के कारण चार बातें होती हैं। प्रथम ज्ञान, सुख आदि के घातने का स्वभाव पड़ता है, द्वितीय स्थिति—काल मर्यादा पड़ती है कि कितने समय तक कर्म जीव के साथ रहेगा। तृतीय कर्मों में फल देने की शक्ति पड़ती है और चतुर्थ वे नियत तादाद में ही जीव से सम्बद्ध रहते हैं। इन चारों के नाम क्रमशः प्रकृति-बन्ध—स्वभाव पड़ना, स्थितिबन्ध—काल मर्यादा का पड़ना, अनुभागबन्ध—फलदान शक्ति का होना और प्रदेशबन्ध—नियत परिमाण में रहना है। अनुभागबन्ध की अपेक्षा कर्मों में अनेक

विशेषताएँ होती हैं। कुछ कर्म ऐसे है जिनका फल जीव में होता है, कुछ का फल—विपाक शरीर में होता है और कुछ का इन दोनों में। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जिनका फल किसी विशेष जन्म में मिलता है, तथा कुछ का किसी क्षेत्र विशेष में विपाक—फल होता है। इस दृष्टि से जीव विपाकी, शरीर विपाकी, भव विपाकी और क्षेत्रविपाकी ये चार भेद कर्मों के हैं।

उत्कर्षण—प्रारम्भ में कर्मों में पड़ी स्थिति—समय मर्यादा और अनुभाग —फलदान शक्ति के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं। जीव अपने पुरुषार्थ के कारण कितनी ही बन्धी कर्म प्रकृतियों की स्थिति और फलदान शक्ति को बढ़ा लेता है।

अपकर्षण—पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति को घटाना अपकर्षण है। यदि कोई जीव अशुभ कर्म बांध कर शुभ कर्म करता है तो उसके बन्धे हुई अशुभ कर्म की स्थिति और फलदानशक्ति कम हो जाती है, इसी का नाम अपकर्षण है। जब यही जीव उत्तरोत्तर अशुभ कर्म करता रहता है तो उसके बन्धे हुए अशुभ कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति बढ़ जाती हैं। अभिप्राय यह है कि उत्कर्षण और अपकर्षण इन दो क्रियाओं के द्वारा किसी भी बुरे या अच्छे कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

कोई जीव किसी बुरे कर्म का बन्ध कर ले, तो वह अपने शुभ कर्मों द्वारा उस बुरे कर्म के फल और मर्यादा को घटा सकता है। और बुरे कर्मों का बन्ध कर उत्तरोत्तर कलुषित परिणाम करता जाय तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बन्धे हुए बुरे कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति और बढ़ जायगी। कर्मों की इन क्रियाओं के कारण किसी बड़े से बड़े पाप या पुण्य कर्म के फल को कम या ज्यादा मात्रा में शीघ्र अथवा देरी में भोगा जा सकता है।

सत्ता—कर्म बंधते ही फल नहीं देते। कुछ समय पश्चात् फल उत्पन्न करते हैं, इसीका नाम सत्ता है। जैनागम में इस फल मिलने के काल का नाम आबाधा काल बताया गया है। इस काल का प्रमाण कर्मों की स्थिति—समय मर्यादा पर आश्रित है। जिस प्रकार शराब पीते ही तुरन्त नशा उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु कुछ समय बाद नशा लाती है उसी प्रकार कर्म भी बन्धते ही तुरन्त फल नहीं देते हैं, किन्तु कुछ समय पश्चात् फल देते हैं। इस काल को सत्ता या आबाधा काल कहते हैं।

उदय—विपाक या फल देने की अवस्था का नाम उदय है। इसके दो भेद हैं—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कोई भी कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो उसका फलोदय और

उदय होकर भी बिना फल दिये नष्ट होता है, तो उसका प्रदेशोदय कहलाता है।

उदीरणा—पुरुषार्थ द्वारा नियत समय से पहले ही कर्म का विपाक हो जाना उदीरणा है। जैसे आमों के रखवाले आमों को पकने के पहले ही तोड़कर पाल में रखकर जल्दी पका लेते हैं, उसी प्रकार तपश्चर्या आदि के द्वारा असमय में ही कर्मों का विपाक कर देना उदीरणा है। उदीरणा में पहले अपकर्षण क्रिया द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है, जिससे स्थिति के घट जाने पर कर्म नियत समय के पहले ही उदय में आता है।

संक्रमण--एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति के रूप में बदल जाना संक्रमण है। कर्म की मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता है; ज्ञानावरण कभी दर्शनावरण के रूप में नहीं बदलता और न दर्शनावरण कभी ज्ञानावरण के रूप में। संक्रमण कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों में ही होता है। पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति असाता को साता के रूप में बदल सकता है। आयु कर्म की अवान्तर प्रकृतियों में भी संक्रमण नहीं होता है।

उपशम—कर्म प्रकृति को उदय में आने के अयोग्य कर देना उपशम है। इस अवस्था में बद्ध कर्म सत्ता में रहता है, उदित नहीं होता।

निधति—कर्म में ऐसी क्रिया का होना जिससे वह उदय और संक्रमण को प्राप्त न हो सके निधति है।

निकाचना—कर्म में ऐसी क्रिया का होना, जिससे उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय ये अवस्थाएँ न हो सकें, निकाचना है। इस अवस्था में कर्म अपनी सत्ता में रहता है तथा अपना फल अवश्य देता है।

इस प्रकार कर्मों के कारण आत्मा इस शरीर में बद्ध रहता है यह स्वयं कर्मों का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता है। अन्य कोई ईश्वर कर्म फल नहीं देता है। जब इसे तत्त्वों के चिन्तन से शरीर की अपवित्रता का ज्ञान हो जाता है तो यह अपने स्वरूप को समझ कर अपना हित साधन कर लेता है। जो शरीर के अनित्य और अशुचि स्वरूप का चिन्तन करता है, वह विरक्ति पाकर आत्मा की निजी परिणति को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में यह शरीर हाड़, मांस, रुधिर, पीव, मल और मूत्र आदि निन्द्य पदार्थों का समुदाय है। नाना प्रकार के रोग भी इसे होते रहते हैं। यदि कुछ दिन इसे अन्न-पानी न मिले

तो इसकी स्थिति नहीं रह सकेगी। शीत, आतप आदि की बाधा भी यह नहीं सह सकता है।

इस अपवित्र शरीर को यदि समुद्र के जल से स्वच्छ किया जाय तो भी यह शुद्ध नहीं हो सकता है। समुद्र का जल समाप्त हो जायगा पर इसकी गन्दगी दूर न हो सकेगी। कविवर भूधरदास ने शरीर के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है—

मात-पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है।
माखिन के पर माफिक बाहर चामके बेठन बेढ़ धरी है॥
नाहिं तो आय लगें अब ही बक वायस जीव बचैं न घरी है।
देह दशा यहि दीखत भ्रात घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

अर्थ—यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से मिलकर बना है, इसमें अस्थि, मांस, मज्जा, मेद आदि भरे हुए है। मक्खियों के पंख जैसा बारीक चमड़ा चारों ओर से लपेटा हुआ है, अन्यथा बिना चमड़े के मांस पिण्ड को क्या कौवे छोड़ देते? कभी के खा जाते। शरीर की इस घिनौनी दशा को देखकर भी मनुष्य इससे विरत नहीं होता है, पता नहीं उसकी बुद्धि किसने हर ली है?

यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि इसके स्पर्श से कोई भी सुगन्धित और पवित्र वस्तु अपवित्र हो जाती है। इस बात की

पुष्टि के लिये शास्त्रों में एक उदाहरण आता है, जिसे यहाँ उद्‌धृत कर उक्त विषय का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की जाती है।

एक दिन एक श्रद्धालु शिष्य गुरु के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये आया। गुरुने उससे कहा कि मैं आपको तभी दीक्षा दूँगा, जब आप संसार की सबसे अपवित्र वस्तु ले आओगे। शिष्य गुरु के आदेश को ग्रहण कर अपवित्र वस्तुओं की तलाश में चला। उसने अपने इस कार्य के लिये एक मित्र से सहायता ली। सर्व प्रथम वे दोनों बाजार में जहाँ शराब और मांस बिकते थे, गये; पर वे वस्तुएँ भी उन्हें अपवित्र न जँची। अनेक खरीदनेवाले उन्हें खरीद खरीद कर अपने घर ले जा रहे थे।

वे दोनों बहुत विचार-विनिमय के पश्चात् टट्टी घर में गये और मनुष्य का मल लेने लगे। मल ग्रहण करते ही दीक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्य के मन में विचार आया कि यह तो सबसे अपवित्र नहीं है। मनुष्य जो सुन्दर-सुन्दर सुस्वादु भोजन ग्रहण करता है, जो कि संसार में पवित्र, भक्ष्य, सुगन्धित माने जाते हैं, यह उन्हीं का रूपान्तर है। इस शरीर के स्पर्श और संयोग होने से ही उन सुन्दर दिव्य पदार्थों का यह रूप हो गया है। अतः जिस शरीर में इतनी बड़ी अपवित्रता है कि जिसके संयोग

से ही दिव्य पदार्थ भी अस्पृश्य हो गये हैं तो फिर इस शरीर से बड़ा अपवित्र और निन्द्य कौन हो सकता है ? यह मल अपवित्र नहीं, बल्कि अपवित्र यह शरीर है, जिसके संयोग से दिव्य पदार्थों की यह अवस्था हो गयी है ?

इस प्रकार बड़ी देर तक सोच-विचार कर वह मल को छोड़कर गुरु के पास खाली हाथ आया और नत मस्तक हो बोला—गुरुदेव, इस संसार में इस शरीर से अपवित्र और निन्द्य कोई वस्तु नहीं। मैंने अनुभव से इस बात को हृदयंगम कर लिया है, अतः अब शुद्ध और पवित्र बनानेवाली दीक्षा दीजिये। गुरु ने प्रसन्न होकर कहा कि अब तुम दीक्षा के अधिकारी हो, अतः मैं दीक्षा दूँगा।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शरीर के स्वरूप चिन्तन से बोधवृत्ति जाग्रत होती है, अतएव इसके वास्तविक रूप का विचार करना चाहिये।

बूरं वारियोळ‍्द्रियूर्ध्वगमनंगेट्‍दुर्वियोळ‍्बळ्‍दु दू-
ळ्‍बारै सल्सुळिगाळिर्यिदुरुळ‍्ववोल्कर्मंगळि नांदु मे ॥
यूभारंदाळ्‍दुरे कर्ममोय्‍देडेगे सुत्तित्तिर्पेनंतज्ञदा-
नारी संसृतियारो मोक्षकने नां रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कपास को पानी में डुबा देने से उस की ऊपर उठनेवाली शक्ति नष्ट हो जाती है। कपास हवा के साथ ऊपर उठने का प्रयत्न करता है पर होता यह है कि उस पर धूल आकर और जम जाती है। इसी प्रकार योग-कषायों के कारण यह आत्मा विकृत हो कर्मरूपी धूल को ग्रहण कर भारी हो जाता है, जिससे शरीर प्राप्त कर नीचे की ओर दबता चला जाता है। भावार्थ यह है कि शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक आत्मा में वैभाविक शक्ति के परिणमन के कारण योग-कषाय रूप प्रवृत्ति होती है, जिस से द्रव्य कर्म ज्ञान वरणादि और नोकर्म शरीर की प्राप्ति होती है। यह शरीर पुनः संसार परिवर्तन का कारण बन जाता है अतः इस परिवर्तन को दूर करने के लिये सोचना चाहिये कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और यह संसार क्या है ? क्या इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ? ॥११॥

विवेचन—प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः या सायंकाल एकान्त में बैठकर अपने सन्बन्ध में विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कर्त्तव्य है ? यह संसार क्या है ? मुझे जन्म-मरण के दुःख क्यों उठाने पड़ रहे हैं ? इस प्रकार विचार करने से व्यक्ति को अपना यथार्थ रूप ज्ञात हो जाता है। वह कर्मों से उत्पन्न विकार और विभाव को अच्छी तरह जान लेता है। शास्त्रों में संसार की चार प्रकार की उपमाएँ बतायी गयी हैं, जिनके स्वरूप चिन्तन द्वारा कोई भी व्यक्ति सज्ज्ञान लाभ कर सकता है।

पहली उपमा संसार की समुद्र के समान बतायी है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, वैसे ही विषय वासना की लहरें उत्पन्न होती हैं। समुद्र जैसे ऊपर से सपाट दिखलायी पड़ता है, पर कहीं गहरा होता है और कहीं अपने भँवरों में डाल देता है उसी प्रकार संसार भी ऊपर से सरल दिखलायी पड़ता है, पर नाना प्रकार के प्रपंचों के कारण गहरा है, और मोहरूपी भँवरों में फसाने वाला है। इस संसार में समुद्र की बड़वाग्नि के समान माया तथा तृष्णा की ज्वाला जला करती है,जिसमें संसारी जीव अहर्निश झुलसते रहते है।

संसार की दूसरी उपमा अग्नि के समान बतायी है, जैसे अग्नि ताप उत्पन्न करती है, आग से जलने पर जीव को बिल-बिलाहट होती है उसी प्रकार यह संसार भी जीव को त्रिविधि— दैहिक, दैविक, भौतिक ताप उत्पन्न करता है तथा संसारिक तृष्णा से दग्ध जीव कभी भी शान्ति और विश्राम नहीं पाता है। अग्नि जैसे ईंधन डालने से उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती है उसी प्रकार अधिकाधिक परिग्रह बढ़ाने से सांसारिक लालसाएँ बढ़ती चली जाती हैं। पानी डालने से जिस प्रकार आग शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सन्तोष या आत्म-चिन्तन रूपी जल से संसार के संताप दूर हो जाते हैं।

तीसरी उपमा संसार को अन्धकार से दी गयी है। जैसे अन्धकार में प्राणी को कुछ नहीं दिखलायी पड़ता है, इधर- उधर मारा-मारा फिरता है, आंखों के रहते हुए भी कुछ नहीं देख पाता है वैसे ही संसार में अविवेक रूपी अन्धकार के रहते हुए प्राणी चतुर्गतियों में भ्रमण करता है, आत्मा की शक्ति के रहते हुए मोहान्ध बनता है।

संसार को चौथी उपमा शकटचक्र—गाड़ी के पहिये से दी गयी है। जैसे गाड़ी का पहिया बिना धुरे के नहीं चलता है, उसी प्रकार यह संसार मिथ्यात्व रूपी धुरे के बिना नहीं चलता है। मिथ्यात्व के कारण ही यह जीव जन्म-मरण के दुःख उठाता है। जब इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो सहज में कर्मों से छूट जाता है।

जीव को संसार से विरक्ति निम्न बारह भावनाओं के चिन्तन से भी हो सकती है। संसार का यथार्थ स्वरूप इन भावनाओं के चिन्तन से अवगत हो जाता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता का परिज्ञान भी इन भावनाओं के चिन्तन से होता है। आचार्यों ने भावनाओं को माता के समान हितैषी बताया है। भावनाओं के चिन्तन से शान्ति सुख की प्राप्ति होती है, आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिलती है।

अनित्य भावना—शरीर, वैभव, कुटुम्ब, लक्ष्मी, महल-मकान, परिवार, मित्र, हितैषी सब विनाशीक हैं। जीव सदा अविनाशी है, इसका स्वभावतः इन पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार संसार की अनित्यता का चिन्तन करना, अनित्य भावना है।

अशरण भावना—जब मृत्यु आती है तो जीव को कोई नहीं बचा सकता है। केवल एक धर्म ही इस जीव को शरण दे सकता है। कविवर दौलतरामजी ने इस भावना का सुन्दर निरूपण किया है—

सुर-असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई। मरते न बचावैं कोई॥

अर्थ—इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्त्ती, आदि सभी मृत्यु रूपी सिंह के मुँह में हरिण के समान असहाय हो जाते हैं। मणि, मंत्र, तंत्र, अमोघ औषध तथा नाना प्रकार के दिव्योपचार मृत्यु आने पर रक्षा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार का बार-बार चिन्तन करना अशरण भावना है। अभिप्राय यह है कि बार-बार यह विचारना कि इस जीव को मृत्यु-मुख से कोई नहीं बचा सकता है। यह सुख, दुःख का भोगनेवाला अकेला ही है।

संसार भावना— द्रव्य और भावकर्मों के कारण आत्मा ने इस संसार में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया है। संसार रूपी शृंखला से कब मैं छूटूँगा। यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्ष स्वरूप हूं। इस प्रकार चिन्तन करना संसार भावना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस भावना का वर्णन करते हुए बताया है—

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुर व्याहतैः
तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंसारभस्मीकृतैः।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्रदुरन्तदुर्गमातिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः॥

अर्थ—इस दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकों में तो ये शूलों, कुल्हाड़ी, घानी, अग्नि, क्षार, जल, छूरा, कटारी आदि से पीड़ा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं और तिर्यञ्च गति में भूख, प्यास, उष्ण आदि की बाधाओं को सहते हुए अग्नि की शिखा के भार से भस्मरूप खेद और दुःख पाते हैं। मनुष्य गति में अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख भोगते है। इसी प्रकार देव गति में राग भाव से उद्धत होकर कष्ट सहते हैं।

तात्पर्य यह है कि संसार का कारण अज्ञान है। अज्ञान भाव से परद्रव्यों में मोह तथा राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है, इससे

कर्म बन्ध होता है और कर्म बन्ध का फल चारों गतियों में भ्रमण करना है। इस प्रकार अज्ञान भाव जन्य संसार का स्वरूप बार-बार विचारना संसार भावना है।

एकत्व भावना----यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायेगा और किये कर्मों का फल अकेला ही भोगेगा। इसके सुख, दुःख को बांटने वाला कोई नहीं है। कहा भी है—

एकः श्वाभ्रं भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोज भृङ्गः

एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः

एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्

एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥

अर्थ----यह आत्मा आप अकेला ही देवांगना के मुखरूपी कमल की सुगन्धि लेने वाले भ्रमर के समान स्वर्ग का देव होता है और अकेला आप ही तलवार, छुरी आदि से छिन्न भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिर को पीता है तथा अकेला ही क्रोधादि कषाय रहित होकर कर्मों को बांधता है और अकेला ही ज्ञानी, विद्वान्, पंडित होकर समस्त कर्म रूप आवरण के अभाव होने पर ज्ञानरूपी राज्य को भोगता है।

कर्मजन्य संसार की अनेक अवस्थाओं को यह आत्मा अकेला ही भोगता है, इसका दूसरा कोई साथी नहीं; इस प्रकार बार-बार सोचना एकत्व भावना है।

अन्यत्वभावना——यह आत्मा परपदार्थों को अपना मान कर ससार में भ्रमण करता है जब उन्हें अपने से भिन्न समझ अपने चैतन्य भाव में लीन हो जाता है तो इसे मुक्ति मिल जाती है। अभिप्राय यह है कि इस लोक में समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ता को लिये भिन्न भिन्न हैं। कोई किसी में मिलता नहीं है किन्तु परस्पर में निमित्त नैमित्तिक भाव से कुछ कार्य होता है, उसके भ्रम से यह जीव परपदार्थों में अहंभाव और ममत्व करता है। जब इस जीव को अपन स्वरूप के पृथक्त्व का प्रतिभास हो जाता है तो अहंकार भाव निकल जाता है। अतः बार बार समस्त द्रव्यों से अपने को भिन्न भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

अशुचि भावना——यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्र की खान है, रोगों का घर है, वृद्धावस्था जन्य कष्ट भी इसे होता है, मैं इससे भिन्न हूँ, इस प्रकार चिन्तवन करना अशुचि भावना है। आत्मा निर्मल है यह सर्वदा कर्ममल से रहित है, परन्तु अशुद्ध अवस्था के कारण कर्मों के निमित्त से शरीर का सम्बन्ध होता है। यह शरीर अपवित्रता का घर है, इस प्रकार बार बार सोचना

अशुचि भावना है।

आस्रव भावना----राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि आस्रव के कारण हैं। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा आस्रव रहित केवल ज्ञान स्वरूप है, तो भी अनादि कर्म के सम्बन्ध से मिथ्यात्वादि परिणाम स्वरूप परिणत होता है, इसी परिणति के कारण कर्मों का आस्रव होता है। जब जीव कर्मों का आस्रव कर भी ध्यानस्थ हो अपने को सब भावों से रहित विचारता है तो आस्रव भाव से रहित हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने आस्रव भावना का वर्णन करते हुए बताया है:—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ॥
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्ये पुंसां दुरित पटलं जन्मभयदम् ॥

अर्थ----प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे काम के सहचारी पञ्चेद्रिय के विषय चौथे प्रमाद विकथा, पाँचवे मन-वचन-कायरूप छठे व्रत रहित अविरति रूप परिणाम और सातवें आर्त, रौद्रध्यान ये सब परिणाम नियम से पाप रूप आस्रव को करनेवाले हैं। यह पापास्रव अत्यन्त

दुःख दायक है, चारों गतियों में भ्रमण कराने वाला है। शुभास्रव ही बन्ध का कारण है, अतः आस्रव के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना आस्रव भावना है।

संवर भावना—जीव ज्ञान, ध्यान में प्रवृत्ति होने से नवीन कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता है, इस प्रकार का विचार करना संवर भावना है। राग, द्वेष रूप परिणामों से आस्रव होता हैं, जब जीव अपने स्वरूप को समझ कर राग-द्वेष से हट जाता है और स्वरूप चिंतन में लीन हो जाता है, संवर भावना होती है।

निर्जरा भावना—ज्ञान सहित क्रिया करना निर्जरा का कारण है ऐसा चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना—लोक के स्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का विचार करना लोक भावना है। इस लोक में सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं। इनमें आत्मद्रव्य पृथक् है, इसका स्वरूप यथार्थ जानकर अन्य पदार्थों से ममता छोड़ना लोक भावना है।

बोधिदुर्लभ भावना—इस भ्रमणशील संसार में सम्यग्ज्ञान या सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होना दुर्लभ है। यद्यपि रत्नत्रय आत्मा की वस्तु है, परन्तु अपने स्वरूप को न जानने के कारण यह दुर्लभ हो रहा है, ऐसा विचारना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्म भावना---धर्मोपदेश ही कल्याणकारी है, इसका मिलना कठिन है, ऐसा विचारना धर्म भावना है अथवा आत्मधर्म का चिन्तन करना धर्म भावना है।

तनुवे स्फाटिक पात्रेयिंद्रियद् मोत्तं ताने सद्वर्ति जो–
वनवे ज्योतियदर्के पज्जळिसुत्रा सुज्ञानमे रस्मियिं ॥
तिनितुं कूडिदोडेनो रस्मियोदविंगें देव ! निन्नेन्न चिं–
तनेगळनोडे घृतंबोलेएणे वोलला ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

इस शरीर की उपमा दीपक से दी जा सकती है। इन्द्रियाँ इस दीपक की बत्ती हैं और सम्यग्दर्शन इस दीपक की लौ। इस दीपक का प्रयोजन क्या प्रकाश करना—भेद-विज्ञान की दृष्टि प्राप्त करना नहीं है ? क्या इस प्रकार का मेरा चिन्तन दीपक के स्नेह (तेल या घी) के समान नहीं है ? ॥१२॥

विवेचन----तत्त्व चिन्तन द्वारा भेदविज्ञान की दृष्टि उपलब्ध होती है। इस दृष्टि की प्राप्ति का प्रधान कारण रत्नत्रय है, यही रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र वास्तविक धर्म है। वस्तुतः पुण्य-पाप को धर्म, अधर्म नहीं कहा जा सकता है। मोह के मन्द होने से जीव जिनपूजन, गुरुभक्ति, एवं स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होता है, इससे पुण्यास्रव होता है; पर

ये वास्तविक धर्म नहीं हैं। क्योंकि सभी प्रकार का राग अधर्म है; चाहे शुभ राग हो या अशुभ राग कर्मबन्ध ही करेगा। तथा राग परणति भी हेय है।

परसम्बन्ध और क्षणिक पुण्य-पाप के भाव से रहित अक्षय सुख के भाण्डार आत्मा की प्रतीनि करना ही धर्म है। धर्मात्मा या ज्ञानी जीव को पराश्रय रहित अपने स्वाधीन स्वभाव की पहले प्रतीति करनी होती है, पश्चात् जैसा स्वभाव है उस रूप होने के लिये अपने स्वभाव में देखना होता है। यदि कोई शुभाशुभ भाव आजाय तो उसे अपना अधर्म समझ छोड़ना चाहिये। परवस्तु और देहादि की क्रियाएँ सब पररूप हैं, ये आत्मरूप नहीं हो सकतीं। पुण्य-पाप का अनुभव दुःख है, आकुलता है, क्षणिक विकार है। आत्मा का धर्म सर्वदा अविकारी है, धर्मरूप होने के लिये आत्मा को पर की आवश्यकता नहीं। पर से भिन्न अपने स्वभाव की श्रद्धा न होने से धर्मात्मा स्वयं ही ज्ञानरूप में परिणत होता है, उसे कोई भी संयोग अधर्मात्मा या अज्ञानी नहीं बना सकता है।

जैसे पुद्गल की स्वर्णरूप अवस्था का स्वभाव कीचड़ आदि पर पदार्थों के संयोग होने पर भी मलिन नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का धर्म ज्ञान, बल, दर्शन और सुखरूप है, क्षणिक राग

इसका धर्म कभी नहीं हो सकता। जब जीव अपने को सुखी और स्वाधीन समझ लेता है और पर में सुख की मान्यता को त्याग देता है तो उसकी धर्मरूप परणति हो जाती है। जीव जब पापभाव को छोड़कर पुण्यभाव करता है तो रागरूप परिणति ही होती है, जिससे कर्मबन्ध के सिवा और कुछ नहीं होता। भले ही पुण्योदय से देव, चक्रवर्ती हो जाय, किन्तु स्वस्वभाव से च्युत होने के कारण अधर्मात्मा ही माना जायगा।

जबतक जीव अपने को पराश्रय और विकारी मानता है तबतक उसकी दृष्टि पुण्य-पाप की ओर रहती है, पर जब त्रिकाल असंग स्वभाव की प्रतीति करता है तो विकार का क्षय हो जाता है और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा आभासित होने लगता है। पर द्रव्यों मे राग करना, उनके साथ अपना संयोग मानना दुःखरूप है और दुःख कभी भी आत्मा का धर्म नहीं हो सकता है।

यह भी सत्य है कि आत्मा को किसी बाह्य संयोग से सुख नहीं मिल सकता है। यदि इसका सुख परवस्तु जन्य माना जायगा तो सुख संयोगी वस्तु हो जायगा, पर यह तो आत्मा का स्वभाव है, किसीके संयोग से उत्पन्न नहीं होता। पर पदार्थों के संयोग से सुख की निष्पत्ति आत्मा में मानी जाय तो नाना प्रकार की बाधाएँ आयेंगी। एक वस्तु जो एक समय में सुख-

कारक है, वही वस्तु दूसरे समय में दुःखोत्पादक कैसे हो जाती है ? पर संयोग से उत्पन्न सुखाभास दुःखरूप ही है। खाने, पीने, सोने, गप्प करने, सैर करने, सिनेमा देखने, नाच-गाना देखने एवं स्त्री-सहवास आदि से जो सुखोत्पत्ति मानी जाती है, वह वस्तुतः दुःख है। जैसे शराबी नशे के कारण कुत्ते के मूत्र को भी शरबत समझता है, उसी प्रकार मोही जीव भ्रमवश दुःख को सुख मानता है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जंइंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा॥

अर्थ—जो इन्द्रियों से होनेवाला सुख है, वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, पापबन्ध का कारण है तथा चंचल है, इसलिये दुःखरूप है।

आत्मिक सुख अक्षय, अनुपम, स्वाधीन, जरा-राग-मरण आदि से रहित होता है। इसकी प्राप्ति किसी अन्य वस्तु के संयोग से नहीं होती है। यह तो त्रिकाल में ज्ञानानन्दरूप पूर्ण सामर्थ्यवान् है। अज्ञानता के कारण जीव की दृष्टि जबतक संयोग पर है, दुःख को सुख समझता है; किन्तु जिस क्षण पराश्रित विकारभाव हट जाता है, सुखी हो जाता है। यह सुख कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि उसके स्वरूप स्थित सुख का अक्षय भण्डार खुल जाता है।

जीव का सबसे बड़ा अपराध है आत्मा से भिन्न सुख को मानना, इस अपराध का दण्ड है संसाररूपी जेल। जीव में जब यह श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि 'मेरा सुख मुझ में है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी मुझ में ही हैं, मेरा स्वरूप सर्वदा निर्मल है, तो वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है। पर से भिन्न अपने स्वतन्त्ररूप को जानलेने पर जीव सम्यग्ज्ञानी और पर से भिन्न स्वरूप में रमण करने पर सम्यक् चारित्रवान् कहा जाता है। अतएव आध्यात्मिक शास्त्रों के अनुसार स्वतन्त्र स्वरूप का निश्चय, उसका ज्ञान, उसमें लीन होना और उससे विरुद्ध इच्छा का त्यागना ये चार आत्म-प्राप्ति की आराधनाएँ हैं और निर्दोष ज्ञानस्वरूप में लीन होना आत्मा का व्यापार है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा सामान्य, विशेषस्वरूप है, अनादि, अनन्तज्ञान स्वरूप है। इस सामान्य की समय-समय पर जो पर्यायें होती हैं, वे विशेष हैं। सामान्य ध्रौव्य रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है। यदि पुरुषार्थी जीव विशेष पर्याय में अपने स्वरूप की रुचि करे तो विशेष शुद्ध और विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, दोषादि हैं, वह मैं हूँ' तो विशेष अशुद्ध होता है। भेदविज्ञानी जीव क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों में राग नहीं करता, अपने स्वरूप की रुचि करता है। सभी द्रव्यों की

अवस्थाएँ कर्मानुसार होती हैं, जीव उन्हें जानता है पर करता कुछ नहीं है। जब जीव को अपने स्वरूप का पूर्ण निश्चय हो जाता है, अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को जान लेता है तो अपनी ओर झुक जाता है। निमित्त या सहकारी कारण इस आत्मा को अपने विकास के लिये निरन्तर मिलते रहते हैं। अतः भेद-विज्ञान की ओर अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये।

तनुवें ताम्र निवासमो मळल वेट्टोळ्तोडि बोडं वरु-
ळ्मनमोल्दिर्प वोर्लिदो नाळेयो तोडकें नाळिदो ईगळो ॥
घन दोड्डॆंववोलोड्डियोड्डळिवमेय्योळ्मोसा वेकिर्दपै।
नेनेदिर्जीवने मेलेनेंदरुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यह शरीर क्या ताम्बे के द्वारा निर्मित घर है? बालू के पहाड़ पर मकान बनाकर यदि कोई मनुष्य उस मकान से ममता करे तो उसका यह पागलपन होगा। इसी प्रकार नाश होनेवाले बादलों के समान इस क्षणभंगुर शरीर पर मोहग्रस्त जीव क्यों प्रेम करता है? मोह को छोड़ कर जीव आत्मतत्त्व का चिन्तन करे; हे प्रभो! आपने ऐसा समझाया ॥१३॥

विवेचन—इस संसारी प्राणी ने अपने स्वभाव को भूलकर पर पदार्थों को अपना समझ लिया है, इसमे यह स्त्री, पुत्र, धन, दौलत और शरीर से प्रेम करता है, उन्हें अपना समझता है।

जब मोह का पर्दा दूर हो जाता है, स्वरूप का प्रतिभास होने लगता है तो शरीर पर से आस्था इसकी उठ जाती है। मोह के कारण ही सारे पदार्थों में ममत्व बुद्धि दिखलायी पड़ती है।

जैन दर्शन में वस्तु विचार के दो प्रकार बताये गये हैं— प्रमाणात्मक और नयात्मक। नयात्मक विचार के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद हैं। पदार्थ के सामान्य और विशेष इन दोनों अंशों को या अविरोध रूप से रहनेवाले अनेक धर्मयुक्त पदार्थ को समग्ररूप से जानना प्रमाण ज्ञान है। यह वही है, ऐसी प्रतीति सामान्य और प्रतिक्षण में परिवर्तित होनेवाली पर्यायों की प्रतीति विशेष कहलाती है। सामान्य ध्रौव्य रूप में सर्वदा रहता है और विशेष पर्याय रूप में दिखलायी पड़ता है। प्रमाणात्मक ज्ञान दोनों अंशों को युगपत् ग्रहण करता है।

नय ज्ञान एक-एक अंश को पृथक्-पृथक् ग्रहण करता है। पर्यायों को गौण कर द्रव्य की मुख्यता से द्रव्य का कथन किया जाना द्रव्यार्थिक नय है। यह नय एक है, क्योंकि इसमें भेद प्रभेद नहीं है। अंशों का नाम पर्याय है, उन अंशों में जो प्रभेदित अंश है, वह अंश जिस नय का विषय है, वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। पर्यायार्थिक नय को ही व्यवहार नय

कहते हैं। व्यवहार नय का स्वरूप 'व्यवहरणं व्यवहारः' वस्तु में भेद कर कथन करना बताया है। यह गुण, गुणी का भेद कर वस्तु का निरूपण करता है, इसलिये इसे अपरमार्थ कहा है।

व्यवहार नय के दो भेद हैं—सद्‌भूत व्यवहार नय और असद्‌भूत व्यवहार नय। किसी द्रव्य के गुण उसी द्रव्य में विवक्षित कर कथन करने का नाम सद्‌भूत व्यवहार नय है। इस नय के कथन में इतना अयथार्थपना है कि यह अखंड वस्तु में गुण-गुणी का भेद करता है। एक द्रव्य के गुणों का बलपूर्वक दूसरे द्रव्य में आरोपण किये जाने को असद्‌भूत व्यवहार नय कहते हैं। इस नय की अपेक्षा से क्रोधादि भावों को जीव के भाव कहा जायगा। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से क्रोधादि जीव के गुण नहीं हैं, ये कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा के विकृत परिणाम हैं। इन दोनों नयों के अनुपचरित और उपचरित के दो भेद हैं। पदार्थ के भीतर की शक्ति को विशेष की अपेक्षा से रहित सामान्य दृष्टि से निरूपण किये जाने को अनुपचरित सद्‌भूत व्यवहार नय कहा जाता है। अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतु से उस वस्तु का उसीमें परकी अपेक्षा से जहाँ उपचार किया जाता है, उपचरित सद्‌भूत व्यवहार नय होता है।

अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि भावों में जीव के भावों की

विवक्षा करना, असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय है। औदयिक क्रोधादि भाव जब बुद्धिपूर्वक हों, उन्हें जीव के कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उदाहरण—कोई पुरुष क्रोध या लोभ करता हुआ, यह समझ जाय कि मैं क्रोध या लोभ कर रहा हूँ, उस समय कहना कि वह क्रोधी या लोभी है।

व्यवहार का निषेध करना निश्चय नय का विषय है। निश्चय नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। जैसे व्यवहार नय जीव को ज्ञानवान् कहेगा तो निश्चय नय उसका निषेध करेगा—जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव अनन्तगुणों का अखंड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नता में गुण-गुणी का भेद करना ही मिथ्या है, अतः निश्चय नय उसका निषेध करेगा। यदि वह किसी विषय का विवेचन करेगा तो उसका विषय भी मिथ्या हो जायगा। द्रव्यार्थिक नय का ही दूसरा नाम निश्चय नय है। निश्चय नय निषेध के द्वारा ही वस्तु के अवक्तव्य स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

जीव का इस शरीर के साथ सम्बन्ध व्यवहार नय की दृष्टि से है, इसी नय की अपेक्षा देव-पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, दान आदि धर्म हैं। एकान्तरूप से न केवल व्यवहार नय ग्राह्य है और न निश्चय नय ही। आचार्य ने उपर्युक्त पद्य में लक्षण

विध्वंसी शरीर के साथ जीव सम्बन्ध का संकेत करते हुए निश्चय नय की दृष्टि द्वारा अपने स्वरूप-चिन्तन का प्रतिपादन किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मोह आत्मा का विकृत स्वरूप है, निश्चय की अपेक्षा यह आत्मा का स्वरूप नहीं। अतः व्यवहारी जीव मोह के प्रबल उदय से शरीर को अपना समझ लेता है; किन्तु कुछ समय पश्चात् उसके इस समझने की निस्सारता उसे मालूम हो जाती है। जैसे बालू की दीवाल बन नहीं सकती या बनाते ही तुरत गिर जाती है, अथवा सुन्दर रंग बिरंगे मेघ पटल क्षण भर के लिये अपना मन मोहक रूप दिखलाते हैं, पर तुरन्त विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार यह शरीर भी शीघ्र नष्ट होनेवाला है, इससे मोह कर पर भावों को अपना समझना, बड़ी अज्ञता है।

निश्चय नय द्वारा व्यवहार को त्याज्य समझकर जो आत्मा के स्वरूप का मनन करता है तथा इतर द्रव्यों और पदार्थों के स्वरूप को समझकर उनसे इसे अलिप्त मानता है, इसे अपने ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, आदि गुणों से युक्त अखण्ड समझता है, अनुभव करता है वह इस शरीर में रहते हुए भी रागादि परिणामों को छोड़ देता है, अपने आत्मा में स्थिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है क्रोध, मान, माया लोभ, आदि विकार व्यवहार नय के विषय हैं, अतः इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। मोह इन सब विकारों में

प्रबल है, इसीके कारण अन्य विकारों को उत्पत्ति होती है तथा अविवेकी व्यवहारी अपने को इन विकारों से युक्त समझते हैं।

नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थों के स्वरूपों को अवगत कर आत्म-द्रव्य की सत्ता सबसे भिन्न, स्वतन्त्र रूपमें समझनी चाहिये। व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के कर्म आरम्भिक साधक के लिये करणीय है, तभी वह शरीर के मोह से निवृत्त हो सकता है।

उंबूटं मिगिलागे येरुव हयं वेच्चल्के नीर्मूगिनो-
ळ्तुंबल्पोगुते मुग्गियुं मरणमक्कुं जीवको देहवे ॥
ष्टं वाळ्दष्टदु लाभवी किडुव मेय्यं कोट्टु नित्यत्ववा-
दिंवं धमदे कोंववं चदुरनै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥१४॥

हे रत्नकराधोश्वर!

भोजन अधिक करने से, घोड़े पर बैठकर चलते समय ठोकर लगने से, नाक में पानी जाने से, जाते समय ठोकर लगने से यह जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। अत: जीवात्मा ऐसे अनिश्चित शरीर से जितना काम लेगा उतनाही अच्छा समझा जायगा; अर्थात् जो व्यक्ति इस नाशवान शरीर को देखकर शाश्वत भाव को प्राप्त होता है वही चतुर है क्योंकि पद पद पर इस शरीर के लिए मृत्यु का भय है। अतः इस क्षणभंगुर शरीर को प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होना चाहिये ॥ १४ ॥

विवेचन——मनुष्य गति में अकाल मरण बताया गया है। देव, नारकी और भोगभूमि के जीवों का अकाल मरण नहीं होता है,

आयु पूर्ण होने पर ही आत्मा शरीर से पृथक् होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में अकाल मरण होता है, जिससे बाह्य निमित्त मिलने पर कभी भी इस शरीर से आत्मा पृथक् हो सकता है।

शरीर प्राप्ति का मुख्य ध्येय आत्मोत्थान करना है। जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर अपना स्वरूप पहचान लेते हैं, अपनी आत्मा का विकास करते हैं, वस्तुतः वे ही इस शरीर को सार्थक करते हैं। इस क्षण-भंगुर, अकाल मृत्यु से ग्रस्त शरीर का कुछ भी विश्वास नहीं, कि कब यह नष्ट हो जायगा अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा आत्मकल्याण की ओर सजग रहना चाहिये। जो प्रवृत्ति मार्ग में रत रहने वाले हैं, उन्हें भी निष्काम भाव से कर्म करने चाहिये, सर्वदा अपनी योग प्रवृत्ति—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को शुद्ध अथवा शुभ रूप में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। कविवर बनारसी दास ने अपने बनारसी-विलास नामक ग्रन्थ में संसारी जीव को चेतावनी देते हुए कहा है:—

जामें सदा उतपात रोगन सों छीजै गात,
कछू न उपाय छिन-छिन आयु खपनौ।
कीजे बहु पाप औ नरक दुःख चिन्ता व्याप,
आपदा कलाप में बिलाप ताप तपनौ॥

जामें परिगह को बिषाद मिथ्या वकबाद,
बिषैभोग सुखको सबाद जैसे सपनौ ।
ऐसो है जगतवास जैसो चपला विलास,
तामें तूं मगन भयो त्याग धर्म अपनौ ।

अर्थ——इस शरीर में सर्वदा रोग लगे रहते हैं, यह दुर्बल, कमजोर और क्षीण होता रहता है । क्षण-क्षण में आयु घटती रहती है, आयु के इस क्षीणपने को कोई नहीं रोक सकता है । नाना प्रकार के पाप भी मनुष्य इस शरीर में करता है, जिससे नरक की चिन्ता भी इसे सदा बनी रहती है । विपत्ति के आने प नाना प्रकार से संताप करता है, दुःख करता है, शोक करता है और अपने किये का पश्चाताप करता है । परिग्रह धन-धान्य वस्त्र, आभूषण, महल, आदि के संग्रह के लिये रात-दिन श्रम करता है; क्षणिक विषय भोगों को भोगता है, इनके न मिलने पर कष्ट और बेचैनी का अनुभव करता है । यह मनुष्य भव क्षणिक है, जैसे आकाश में बिजली चमकती है, और क्षणभर में विलीन हो जाती है उसी प्रकार यह मनुष्य भव भी क्षणभर में नाश होने वाला है । यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर इन विषयों में लीन हो गया है । अतः विषय-कषाय का त्याग कर इस मनुष्य जीवन का उपयोग आत्म कल्याण के लिये करना चाहिये ।

संसार की अवस्था यह है कि मनुष्य मोह के कारण अपनी इस पर्याय को यों ही बरबाद कर देता है। प्रतिदिन सवेरा होता है और शाम होती है, इस प्रकार नित्य आयु क्षीण होती जा रही है। दिन रात तेजी से व्यतीत होते चले जा रहे हैं; जो सुखी हैं, जिनकी आजीविका अच्छी तरह चल रही है जिनका पुण्योदय से घर भरा पूरा है, उन्हें कुछ भी मालुम नहीं होता। ये हंसते-खेलते, मनोरंजन पूर्वक अपनी आयु को व्यतीत कर देते हैं। प्रतिदिन आंखों से देखते हैं कि कल अमुक व्यक्ति चल बसा; आज अमुक। जिसने जवानी में ऐश आराम किया था, हाथी-घोड़ों की सवारी की थी, जिसके सौन्दर्य की सब प्रशंसा करते थे, जिसकी आज्ञा में नौकर-चाकर सदा तत्पर रहते थे; अब वह बूढ़ा हो गया है, उसके गाल पिचक गये हैं, सौंदर्य नष्ट हो गया है, अनेक रोग उसे घेरे हुए हैं। अब नौकर-चाकरों की तो बातही क्या घर के कुटुम्बी भी उसकी परवाह नहीं करते हैं, सोचते हैं कि यह बुड्ढा कब घर खाली करे, जिससे हमें छुटकारा मिले।

प्रत्येक व्यक्ति आँखों से देखता है कि फलां व्यक्ति जो धनी था, करोड़पति था जिसका वैभव सर्वश्रेष्ठ था, जिसके घर में सोने-चाँदी की बातही क्या हीरे-पन्ने, जवाहिरात के ढेर लगे हुए थे,

दरिद्र हो गया है। जिसकी प्रतिष्ठा समाज में थी, जिसका समाज सब प्रकार से आदर करता था, जिसके बिना पंचायत का काम नहीं होता था, अब वही धन न रहने से सब की दृष्टि में गिर गया है, जो पहले उसके पीछे रहते थे, वे ही अब उससे घृणा करते है, उसकी कटु आलोचना करते हैं और उसे सबसे अभागा समझते हैं।

इस प्रकार नित्य जीवन, मरण, दरिद्रता, वृद्धावस्था, अपमान, घृणा, स्वार्थ, अहंकार आदि की लीला को देखकर भी मनुष्य को विरक्ति नहीं होती, इससे बड़ा और क्या आश्चर्य हो सकता है?

दूसरे को बूढ़ा हम देखते हैं, पर अपने सदा युवा बने रहने की अभिलाषा करते हैं, दूसरों को मरते देखते हैं, पर अपने सदा जीवित रहने की भावना करते हैं, दूसरों को आजीविका से च्युत होते देखते हैं, पर अपने सदा आजीविका प्राप्त होते रहने की अभिलाषा करते हैं। यह हमारी कितनी बड़ी भूल है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस भूल को समझ जाय तो फिर उसे कल्याण करते देरी न हो।

कितने आश्चर्य की बात है कि दूसरों पर विपत्ति आयी हुई देखकर भी हम अपने को सदा सुखी रहने की बात सोचते हैं। मोह मदिरा के कारण प्रत्येक जीव मतवाला हो रहा है, अपने को

भूले हुए है जिसे औरों को बूढे होते हुए देख तथा मरते हुए देख कर भी बोध प्राप्त नहीं करता है। खाना, पीना, आनन्द करना, मिथ्या आशाएँ बांध कर अपने को संतुष्ट करना, अपने वास्तविक कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचना; कितनी भयंकर भूल है। प्रत्येक व्यक्ति को वैराग्य प्राप्त करने के लिये 'संसार और शरीर' इनदोनों का यथार्थ चिन्तन करना चाहिये।

पुलुवीडोळ्पलवु पगल्परदनिर्दो दायमं पेत्तु वा-
ळनेलेयुळ्ळोंदेडेगेय्दुला नेलेयवर्नोवंते पाळ्मेय्योळि- ॥
र्दोलविं पुण्यमर्णीमनं गळसिकोंडा देवलोकक्के पो- ।
गलोडं नोवरवंगो नोव तवगो। रत्नाकराधीश्वरा ॥१५॥

हे रत्नकराधीश्वर !

एक व्यक्ति एक छोटा सा मकान किराये पर लेता है। उस मकान में रह कर नाना प्रकार की संपत्ति का अर्जन करता है। कालान्तर में धनी हो कर जब वह व्यक्ति किसी बडे मकान में चला जाता है तब पहले मकान का मालिक किराया नहीं मिलने के कारण अप्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव इस शरीर को छोड़कर अन्य दिव्य शरीर को प्राप्त करता है तब पहले शरीर से समबन्ध रखने वाले संबंधी अपने स्वार्थ को खतरे में जान कर दुःखी होते हैं। ॥१५॥

विवेचन—— कार्माण शरीर के कारण इस जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। आगम में इसे पंच-

परिवर्तन के नाम से कहा गया है। पंच परिवर्तन का ही नाम संसार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन के भेद हैं। द्रव्य परिवर्तन के नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन ये दो भेद हैं।

नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन— किसी जीव ने एक समय में तीन शरीर—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तथा छः पर्याप्तियों—आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के योग्य स्निग्ध, वर्ण, रस, गन्ध आदि गुणों से युक्त पुद्गल परमाणुओं को तीव्र, मन्द या मध्यम भावों से ग्रहण किया और दूसरे समय में छोड़ा। पश्चात् अनन्त बार अग्रहीत, ग्रहीत और मिश्र परमाणुओं को ग्रहण करता गया और छोड़ता गया। अनन्तर वही जीव उन्हीं स्निग्ध आदि गुणों से युक्त उन्हीं तीव्र आदि भावों से उन्हीं पुद्गल परमाणुओं को औदारिक, वैक्रयिक और आहारक इन तीन शरीर और छः पर्याप्ति रूप से ग्रहण करता है तब नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन होता है।

एक जीव ने एक समय में आठ कर्म रूप से किसी प्रकार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया और एक समय अधिक अवधि प्रमाण काल के बाद उनकी निर्जरा करदी। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन के समान फिर वही जीव उन्हीं परमाणुओं को उन्हीं

कर्म रूप से ग्रहण करे। इस प्रकार समस्त परमाणुओं को जब क्रमशः कर्मरूप से ग्रहण कर चुकता है तब एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन के समूह को द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक सर्व जघन्य अवगाहना वाला जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में कर के उत्पन्न हुआ और मरा। पश्चात् उसी अवगाहना से अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जितने प्रदेश हैं, उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः अपनी अवगाहना में एक क्षेत्र बढ़ा कर सर्व लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाने में जितना समय लगता है, उतने काल का नाम क्षेत्र परिवर्तन है।

कोई जीव उत्सर्पणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हो, पुनः द्वितीय उत्सर्पणी काल के द्वितीय समय में उत्पन्न हो। इसी क्रम से तृतीय, चतुर्थ आदि उत्सर्पणी काल के तृतीय चतुर्थ आदि समयों में जन्म ले और इसी क्रम से मरण भी करे। अवसर्पणी काल के समयों में भी उत्सर्पिणी काल की तरह वही जीव जन्म और मरण को प्राप्त हो तब काल परिवर्तन होता है।

नरक गति में कोई जीव जघन्य आयु दस हजार वर्ष को लेकर उत्पन्न हो, दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार प्रथम

नरक में जघन्य आयु का बन्ध कर उत्पन्न हो। फिर वही जीव क्रम से एक समय अधिक आयु को बढ़ाते हुए तेतीस सागर आयु को नरक में पूर्ण करे तब नरक गति परिवर्तन होता है। तिर्यञ्चगति में कोई जीव अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु को लेकर अन्तर्मुहूर्त के जितने समय में उतनी बार उत्पन्न हो, इस प्रकार एक समय अधिक आयु का बन्ध करते हुए तीन पल्य की आयु पूर्ण करने पर तिर्यञ्चगति परिवर्तन होता है। मनुष्य गति परिवर्तन तिर्यञ्चगति के समान और देवगति परिवर्तन नरक गति के समान होता है। परन्तु देवगति की आयु में एक समयाधिक वृद्धि इकतीस सागर तक ही करनी चाहिये। क्योंकि मिथ्यादृष्टि अन्तिम ग्रैवेयक तक ही जाता है। इस प्रकार इन चारों गतियों के परिभ्रमण काल को भवपरिवर्तन कहते हैं।

पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के जो कि ज्ञानावरण कर्म की सर्वजघन्य अन्तःकोटाकोटि स्थिति को बान्धता है, असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। इनमें संख्यात भागवृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, ये छः वृद्धियाँ भी होती रहती हैं; अन्त कोटाकोटि की स्थिति में सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान निमित्तक अनुभाग अध्यवसाय के स्थान असंख्यातलोक

प्रमाण होते हैं। सर्वजघन्य स्थिति, और सर्वजघन्य अनुभागाध्यवसाय के होने पर सर्वजघन्य योगस्थान होता है। पुनः वही स्थिति कषायाध्यवसाय स्थान और अनुभागाध्यवसाय स्थान के होने पर असंख्यात भाग वृद्धि सहित द्वितीय योगस्थान होता है। इस प्रकार श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। योग स्थानों में अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि को छोड़ शेष चार प्रकार की ही वृद्धियाँ होती हैं।

पश्चात् उसी स्थिति और उसी काषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त करने वाले जीव के द्वितीय कषायाध्यवसाय, स्थान होता है; इसके अनुभागाध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् ही होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते हैं। इस तरह जघन्य आयु में एक-एक समय की वृद्धि क्रमसे तीस कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को पूर्ण करे। इस प्रकार सभी कर्मों की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कषाय, अनुभाग और योग स्थानों को पूर्ण करने पर एक भाव परिवर्तन होता है।

यह जीव अनादि काल से संसार में इस पंच परावर्तनों को करता चला आ रहा है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, तभी इसे इन परिवर्तनों से छुटकारा मिलने की आशा

होती है। मिथ्यात्व ही परिवर्तन का प्रधान कारण है, इसके दूर हुए बिना जीव का कल्याण त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है, जब मनुष्य गति के मिलने पर जीव आत्मा की ओर दृष्टिपात करता है, उसका चिन्तन करता है, उसके रूप में रमण करता है तो सद्बोध प्राप्त हो जाता है और मिथ्यात्व जीव का दूर हट जाता है।

ध्यानक्किल्ल तपक्के सल्ल मरणंगाण्वंदु निम्मत्तर !
ध्यानक्कोल्लेने निप्पवं मडिये नोयल्तक्कुदिष्टादिगळ ॥
दानं गेय् दु तपक्के पाय् दु मरणंगाण्वंदु निम्मत्तर-
ध्यानं गेयद्ळिदंगे शोकिपरिदें ! रत्नाकराधीश्वरा !॥१६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस व्यक्ति ने कभी दान नहीं किया, जिस व्यक्ति का कभी तपस्या में मन नहीं लगा, जिस व्यक्ति ने मरने के समय प्रभु का ध्यान नहीं किया उस व्यक्ति के मरजाने पर सम्बन्धियों को शोक करना सर्वथा उचित है, क्योंकि उस पापात्मा ने आत्म-कल्याण न करते हुए अपनी लीला समाप्त कर दी। दान-धर्म करके, तपश्चर्या में सदा आगे रहकर तथा अन्तिम समय में अक्षर का ध्यान करते हुए जिस ने मृत्यु को प्राप्त किया उसके लिए कोई क्यों शोक प्रकट करेगा ? आत्म-कल्याण करता हुआ जो मृत्यु को प्राप्त होता है उस जीव के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य है ॥ १६ ॥

विवेचन—यह प्राणी मोह के कारण, शरीर, धन, यौवन आदि को अपना मानता है, निरन्तर इनमें मग्न रहता है, इसलिये दान, तप, इन्द्रिय निग्रह आदि कल्याणकारी कामों को नहीं कर पाता है। विनाशीक धन, सम्पत्ति को शाश्वत समझता है, उसमें अपनत्व की कल्पना करता है, इसलिये दान देने में उसे कष्ट का अनुभव होता है। मोह के वशीभूत होने के कारण वह धन का त्याग—दान नहीं कर पाता है। पर सदा यह स्मरण रखना होगा कि जल की तरंगों के समान शरीर और धन चंचल है। जवानी थोड़े दिनों की है, धन मन के संकल्पों के समान क्षण स्थायी है, विषय-भोग वर्षा काल में चमकने वाली बिजली की चमक से भी अधिक चंचल है, फिर इनमें ममत्व कैसा ?

जिस लक्ष्मी का मनुष्य गर्व करता है, जिसके अस्तित्व के कारण दूसरों को कुछ नहीं समझता तथा जिसकी प्राप्ति के लिये माता, पिता भाई-बन्धुओं की हत्या तक कर डालता है, वह लक्ष्मी आकाश में रहने वाले सुन्दर मेघ पटलों के समान देखते देखते विलीन होने वाली है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कल जो धनी था, जिसकी सेवामें हजारों दास दासियाँ हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा में प्रस्तुत थीं, जिसके दरवाजे पर

मोटर, हाथी, घोड़ों का समुदाय सदा वर्तमान था, जिसका सम्मान बड़े-बड़े अधिकारी, धर्म धुरन्धर, राजा-महाराजा करते थे, जो रूपवान्, गुणवान्, धर्मात्मा और विद्वान् माना जाता था; आज वही दरिद्री होकर दर-दर का भिखारी बन गया है, वही अब पापी मूर्ख, अकुलीन, दुश्चरित्र, व्यसनी, दुर्गुणी माना जाता है। लोग उसके पास भी जाने से डरते हैं, उसकी खुलकर निन्दा करते हैं और नाना प्रकार से उसको बुरा-भला कहते हैं!

धनकी सार्थकता दान में है, दान देने से मोह कम होता है। शास्त्रकारों ने धन की तीन स्थितियाँ बतलायी हैं—दान, भोग और नाश; उत्तम अवस्था धन की दान है, दान देने से ही धन की शोभा है। दान न देने से ही धन नष्ट होता है, दान से धन घटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता चला जाता है। जिस व्यक्ति ने आजीवन अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए धनार्जन किया है, वह व्यक्ति संसार का सबसे बड़ा पापी है। ऐसे कंजूस व्यक्ति की मरने पर लाश को कुत्ते भी नहीं खाते हैं। केवल अपने स्वार्थ के लिये जीना और नाना अत्याचार और अन्यायों से धनार्जन करना निकृष्ट जीवन है, ऐसे व्यक्ति का-जीवन मरण कुत्ते के तुल्य है। यह व्यक्ति न तो अपने लिये कुछ कर पाता है और न समाज के लिये ही, वह अपने इस मनुष्य जन्म

को ऐसे ही खो देता है। मनुष्य जन्म लेते समय खाली हाथ आता है और मरते समय भी खाली हाथ ही जाता है, अतः इस धन में मोह क्यों ?

दान करने के पश्चात् धनकी द्वितीय स्थिति भोग है। जो धनार्जन करता है, उसे उस धन का सम्यक् प्रकार उपभोग भी करना चाहिये। धन का दुरुपयोग करना बुरा है, उपयोग अपने कुटुम्ब तथा अन्य मित्र, स्नेही आदि के भरण-पोषण में करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। दान और भोग के पश्चात् यदि धन शेष रहे तो व्यावहारिक उपयोग के लिये उसका संग्रह करना चाहिये। जिस धन से दान और उपभोग नहीं किया जाता है वह धन शीघ्र नष्ट हो जाता है। धनार्जन के लिये भी अहिंसक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिये। चोरी, बेईमानी, ठगी, धूर्तता, अधिक मुनाफा खोरी, आदि साधनों से धनार्जन कदापि नहीं करना चाहिये।

आजीविका अर्जन करने में गृहस्थ को दिन रात आरम्भ करना पड़ता है, अतः वह दान द्वारा अपने इस पाप को हल्का कर पुण्य बन्ध कर सकता है। दान चार प्रकार का है—आहार दान, औषध दान, अभयदान और ज्ञानदान। सुपात्र को भोजन देना या गरीब, अनाथों को भोजन देना आहारदान है। रोगी व्यक्तियों

की सेवा करना, उन्हें औषध देना तथा उनकी देख-भाल करना औषध दान है। जीवों की रक्षा करना, निर्भय बनाना अभयदान है तथा सुपात्रों को ज्ञानदान देना, ज्ञान के साधन ग्रन्थ आदि भेंट करना ज्ञानदान है। यों तो इन चारों दानों का समान माहात्म्य है, पर ज्ञानदान का सबसे अधिक महत्व बताया गया है। प्रथम तीन दान शारीरिक बाधाओं का ही निराकरण करते हैं, पर ज्ञान-दान आत्मा के निजी गुणों का विकास करता है, यह जीव को सदा के लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषों से रहित कर देता है। ज्ञान के द्वारा ही जीव सांसारिक विषय-वासनाओं को छोड़ त्याग, तपस्या और कल्याण के मार्ग का अनुसरण करता है।

दान के फल में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से विशेषता आती है। सुपात्र के लिये खड़े होकर पड़ गाहना—प्रतिग्रहण, उच्चासन देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, और भोजनशुद्धि ये नव विधि हैं। विधि में आदर और अनादर करना विधि विशेष है। आदर से पुण्य और अनादर से पाप का बन्ध होता है। शुद्ध गेहूँ, चावल, घृत, दूध आदि भक्ष्य पदार्थ द्रव्य हैं। पात्र के तप, स्वाध्याय, ध्यान की वृद्धि के लिये साधन भूत द्रव्य पुण्य का कारण है तथा जिस द्रव्य से पात्र के तप, स्वाध्याय की वृद्धि न

हो वह द्रव्य विशिष्ट पुण्य का कारण नहीं होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शुद्धाचरण करने वाले दाता कहलाते हैं। दाता में श्रद्धा तुष्टि भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और शक्ति ये दाता के सात गुण हैं। पात्र में अश्रद्धा न होना, दान में विषाद न करना। फल प्राप्ति की कामना न होना दाता की विशेषता है।

पात्र तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। महाव्रत के धारी मुनि उत्तम पात्र हैं, व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दृष्टि अविरति श्रावक जघन्य पात्र हैं। योग्यपात्र को विधि पूर्वक दिया गया दान बटबीज के समान अनेक जन्म-जन्मान्तरों में महान् फल को देता है। जैसे भूमि की विशेषता के कारण वृक्षों के फलों में विशेषता देखी जाती है, उसी प्रकार पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता हो जाती है। प्रत्येक श्रावको अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार के दानों को देना चाहिये।

शक्ति अनुसार प्रति दिन तप भी करना चाहिये। फल की अपेक्षा न कर संयम वृद्धि के लिये, रागनाश के लिये तथा कर्मों के क्षय के लिये अनशन, अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन बारह तपों को करना चाहिये।

इच्छाएँ ही संसार की विषय-तृष्णा को बढ़ाने वाली हैं, अतः इच्छाओं का दमन करना, इन्द्रिय निग्रह करना, आध्यात्मिक विकास के लिये परमावश्यक है। प्रभु—शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तन, स्मरण भी प्रतिदिन करना अनिवार्य है, क्योंकि प्रभु—चिन्तवन से जीव के परिणामों में विशुद्धि आती है तथा स्वयं अपने विकारों को दूर कर प्रभु बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति धर्म ध्यान पूर्वक अपना शरीर छोड़ता है, उसके लिये किसी को भी शोक करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस काम के लिये उसने शरीर ग्रहण किया है, उसका वह काम पूरा हो गया।

सावि‌गंजलदेके सावुपेरते मेय्दाळ्दा दगंजल।
सावें माण्गुमे कावरुंटेयकटा ! ई जीवनेनेंदुवुं ॥
सावं कंडवनञ्चवे मरणवागल्मुंदें पुट्टने-।
नीवेन्नोळ्निल्ले सावुदु सुखवल्तै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मृत्यु से क्यों डरा जाय ? शरीरधारियों से मृत्यु क्या अलग रहती है ? मृत्यु डरने वालों को छोड़ भी तो नहीं सकती। क्या मृत्यु से कोई बचा सकता है ? क्या इस जीव ने मृत्यु को कभी प्राप्त नहीं किया ? मरने के बाद क्या पुनर्जन्म नहीं होगा ?

विवेचन—मरण पाँच प्रकार का बताया गया है—पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण। जिस मरण के होने पर फिर जन्म न लेना पड़े, वह पंडित-पंडित मरण कहलाता है। यह केवली भगवान या चरम शरीरियों के होता है। जिस मरण के होने पर दो-तीन भव में मोक्ष की प्राप्ति हो जाय, उसे पंडित मरण कहते हैं, यह मरण मुनियों के होता है। देश सयंम पूर्वक मरण करने को बाल पंडित मरण कहते हैं; इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग तक की प्राप्ति होती है। व्रत रहित सम्यग्दर्शन पूर्वक जो मरण होता है, उसे बालमरण कहते हैं, इस मरण से भी स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है। मिथ्यादर्शन सहित जो मरण होता है उसे बाल-बाल मरण कहते हैं यह चतुर्गति में भ्रमण करने का कारण है।

मरण का जैन साहित्य में बड़ा भारी महत्व बताया गया है। यदि मरण सुधर गया तो सभी कुछ सुधर जाता है। मरण को सुधारने के लिये ही जीवन भर व्रत, उपवास कर आत्मा को शुद्ध किया जाता है। यदि मरण बिगड़ गया हो तो जीवन भर की कमाई नष्ट हो जाती है। कषाय और शरीर को कृश कर आत्म शुद्धि करना तथा धन, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि से

मोह छोड़ कर अपनी आत्मा के स्वरूप में रमण करते हुए शरीर का त्याग करना समाधिमरण कहलाता है। यह वीरता पूर्वक मृत्यु से लड़ना है, अहिंसा का वास्तविक स्वरूप है। साधक जब अपनी मृत्यु को निकट आई हुई समझ लेता है तो वह संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर भोजन का त्याग कर देता है। वह संसार के सभी पदार्थों से अपनी तृष्णा, लोलुपता और मोह ममता को छोड़कर आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। अभिप्राय यह है कि अपनी आत्मा से परपदार्थों को भले प्रकार त्यागना संन्यास मरण है।

इस सल्लेखना या समाधि मरण में आत्म-घात का दोष नहीं आता है, क्योंकि कषाय के आवेश में आकर अपने को मारना आत्म-घात है। यह शरीर धर्म साधन के लिये है, जब तक इससे यह कार्य सम्पन्न हो सके तब तक योग्य आहार-विहार आदि के द्वारा इसे स्वस्थ रखना चाहिये। जब कोई ऐसा रोग हो जाय जिससे उपचार करने पर भी इस शरीर की रक्षा न हो सके तो समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिये। किसी असाध्य रोग के हो जाने पर इस शरीर को धर्म साधन में बाधक समझ कर अपकारी नौकर के समान निर्ममत्व हो सावधानी से छोड़ना चाहिये। यह शरीर तो नष्ट होने पर फिर भी मिल जायगा, पर

धर्म नष्ट होने पर कभी नहीं मिलेगा। अतः रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये शरीर से मोह छोड़कर समाधि ग्रहण करनी चाहिये।

मरना तो संसार में निश्चित है, किन्तु बुद्धिमानी पूर्वक सावधान रहते हुए मरना कठिन है। कषायवश विष खा लेना, अग्नि में जल जाना, रेल के नीचे कट जाना, नदी में डूब जाना, आदि कार्य निद्य हैं, ऐसेकार्यों से मरने पर आत्मा की भलाई नहीं होती है। जो ज्ञानी पुरुष मरण के सन्मुख होते हुए निष्कषाय भाव पूर्वक शरीर का त्याग करते हैं, उनका ज्ञानपूर्वक मन्दकषाय सहित मरण होने से वह मरण मोक्ष का कारण होता है।

समाधि मरण दो प्रकार से होता है—सविचार पूर्वक और अविचार पूर्वक। जब शरीर जर्जति हो जाय, बुढ़ापा आजाय, दृष्टि मन्द हो जाय, पाँव से चला न जाय, असाध्य रोग हो जाय या मरण काल निकट आ जाय तो शरीर और कषायों को कृश करते हुए अन्त में चार प्रकार के आहार का त्याग कर धर्मध्यान सहित मरण करना सविचार समाधि मरण है। इस समाधि मरण का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। वृद्धावस्था तक संसार के सभी भोगों को भोग लेता है, सांसारिक इन्द्रिय जन्य सुखों का आस्वादन भी कर लेता है तथा शक्ति अनुसार

धर्म भी करता रहता है। जब शरीर असमर्थ हो जाय जिससे धर्म साधन न हो सके तो शान्त भाव से विकारों और चारों प्रकारके आहारों को त्याग कर मरण करे। मरते समय शान्त, अविचल और निर्लिप्त रहने की बड़ी भारी आवश्यकता है। मन में किसी भी प्रकार की वासना नहीं रहनी चाहिये, वासना रह जाने से जीव का मरण ठीक नहीं होता है।

अचानक मृत्यु आजाय जैसे ट्रेन के उलट जाने पर, घर में आग लग जाने पर, मोटर दुर्घटना हो जाने पर, साँप के काट लेने पर ऐसा संयोग आजाय जिससे शरीर के स्वस्थ होने का कोई भी उपचार न किया जा सके तो शरीर को तेल रहित दीपक के समान स्वयं ही विनाश के सम्मुख आया जाना संन्यास धारण करे। चार प्रकार के आहार त्याग कर पंच परमेष्ठी के स्वरूप तथा आत्म ध्यान में लीन हो जाय। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह दिखलायी पड़े तो ऐसा नियम कर ले कि इस उपसर्ग से मृत्यु हो जाय तो मेरे आत्मा के सिवाय समस्त पदार्थों से ममत्व भाव का त्याग है, यदि इस उपसर्ग से बच गया तो पूर्ववत् आहार-पान, परिग्रह आदि ग्रहण करूँगा। इस प्रकार नियम कर शरीर से ममत्व छोड़, शान्त परिणामों के साथ किसी भी प्रकार की वांच्छा से रहित हो शरीर का त्याग

करना चाहिये ।

समाधि मरण के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी ख्याल रखना चाहिये । जब समाधि-मरण ग्रहण करे उस समय मित्र, कुटुम्बी और अन्य रिश्तेदारों को बुलाकर उनसे क्षमा याचना करनी चाहिये । तथा स्वयं भी सबको क्षमा कर देना चाहिये । स्त्री, पुत्र,माता, पिता आदि के स्नेहमयी सम्बन्धी को त्याग कर रुपये, पैसे, धन-दौलत, गाय, भैंस, दास, दासी आदि से मोह दूर करना चाहिये । यदि कुटुम्बी मोहवश कातर हों तो साधक को उन्हें स्वयं उपदेश देकर समझाना चाहिये । संसार की अस्थिरता, वास्तविकता और खोखलापन बताकर उनके मोह को दूर करना चाहिये । उनसे साधक को कहना चाहिये कि यह आत्मा अमर है, यह कभी नहीं मरता है, इसका पर पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं, यह नाशवान शरीर इसका नहीं है, यह आत्मा न स्त्री होता है, न पुरुष, न नपुंसक और न गाय होता है, न बैल । इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । यह तो सब पौद्गलिक कर्मों का नाटक है, उन्हीं की माया है । मेरा आप लोगों के साथ इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ । ये संयोग वियोग तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं । स्त्री, पुत्र, भाई, आदि का रिश्ता मोहवश पर निमित्तक है, मोह के दूर होते ही इस

संसार की नीरसता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। अब मुझे कल्याण के लिये अवसर मिल रहा है, अतः आप लोग शान्तिपूर्वक मुझे कल्याण करने दें। मृत्यु के पंजे से कोई भी नहीं बचा सकता है, आयु कर्म के समाप्त हो जाने पर कोई इस जीव को एक क्षण भी नहीं रख सकता है, अतः अब आप लोग मुझे क्षमा करें, मेरे अपराधों को भूल जायँ। मैंने इस जीवन में बड़े पाप किये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से अभिभूत होकर अपनी और पर की नाना प्रकार से विराधना की है।

समाधिमरण करनेवाले को शरीर से ममत्व घटाने के लिये क्रमशः पहले आहार का त्याग कर दुग्ध पान करना चाहिये; पश्चात् दूध का भी त्याग कर छाछ का अभ्यास करे। कुछ समय पश्चात् छाछ को छोड़ कर गर्म जल को पीकर रहे। जब आयु दो-चार पहर शेष रह जावे तो शक्ति के अनुसार जलादि का भी त्याग कर उपवास करे। योग्यता और आवश्यकता के अनुसार ओढ़ने-पहरने के वस्त्रों को छोड़ शेष सभी वस्त्रों का त्याग कर दे। यदि शक्ति हो तो सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर मुनिव्रत धारण करे। जब तक शरीर में शक्ति रहे तृण के आसन पर पद्मासन लगा कर बैठ आत्म स्वरूप का चिन्तन करता रहे। जितने समय तक ध्यान में लीन रह सके, रहे। कुछ

समय तक बारह भावनाओं के स्वरूप का चिन्तन करे, संसार के स्वार्थ, मोह, संघर्ष आदि का स्वरूप विचारे।

बैठने की शक्ति न रहने पर लेट जाय और मन, वचन, काय को स्थिर कर समाधिमरण में दृढ़ करनेवाले श्लोकों का पाठ करे तथा अन्य लोगों के द्वारा पाठ किये गये श्लोकों को मन लगाकर सुने। जब बिल्कुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र का जाप करता हुआ पंच परमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करे।

समाधिमरण में शय्या, संयम के साधन उपकरण, आलोचना, अन्न और वैयावृत्त सम्बन्धी इन पाँच बहिरंग शुद्धियों को तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और सामायिकादि षट् आवश्यक सम्बन्धी इन पाँच अन्तरंग शुद्धियों को पालना आवश्यक है। समाधिमरण करनेवाले के पास कोई भी व्यक्ति सांसारिक चर्चा न करे। साधक को समाधि में दृढ़ करनेवाली वैराग्यमयी चर्चा ही करनी चाहिये। उसके पास रोना, गाना, कोलाहल करना आदि का पूर्ण त्याग कर देना आवश्यक है। ऐसी कथाएँ भी साधक को सुनानी चाहिये जिनके सुनने से उसके मन में समाधिमरण के प्रति उत्साह, स्थिरता और आदर भाव पैदा हो। समाधिमरण धारण करनेवाले को दोष उत्पन्न करनेवाली पाँच

बातों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये—

१—जीवित आशंसा—मोहबुद्धि के कारण ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊँ तो ठीक है, कुछ काल तक संसार के सुखों को और भोग लूँगा। धन, जन, आदि से परिणामों में आसक्ति रखना, उन पर ममता करना, जिससे जीवित रहने की लालसा जाग्रत हो।

२—मरण आशंसा—रोग के कष्टों से घबड़ा कर जल्दी मरने की अभिलाषा करना। वेदना, जो कि पर जन्य है, कर्मों से उत्पन्न है, आत्मा के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, अपनी समझ कर घबड़ा जाना और जल्दी मरने की भावना करना।

३—मित्रानुराग—मित्र, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, हितैषी तथा अन्य रिश्तेदारों की प्रीति का स्मरण करना, उनके प्रति मोह बुद्धि उत्पन्न करना।

४—सुखानुबन्ध—पहले भोगे हुए सुखों का बारबार चिन्तन करना।

५—निदानबन्ध—पर भव में सांसारिक विषय भोगों की, धन-धान्य, वैभव की वांछा करना। इस प्रकार इन पाँचों दोषों को दूर कर समाधि ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार मरण को सफल बनाने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। यह मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता है, इसे प्राप्त कर रत्नत्रय स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिये। मोह, ममता के कारण यह जीव संसार के मोहक पदार्थों से प्रेम करता है, वस्तुतः इसका इनसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इस शरीर की सार्थकता समाधिमरण धारण करने में ही है, यदि अन्त भला हो गया तो सब कुछ भला हो ही जाता है। अतः प्रत्येक संसारी जीवको समाधिमरण द्वारा अपने नरभव को सफल कर लेना चाहिये।

प्राणं माणव जन्ममं पडेद् मेय्योळ्निच्चलु पंचक-
ल्याणं पंचगुरुस्तवं परमशास्त्रं मोक्षसंधानचि ॥
त्त्राणं चित्तिन रत्न मूरिवन ळंपिंचितनं गेय्वने- ।
जाणं मत्तिन चिंत कर्म्मरुळरै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गर्भावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण, केवल और निर्वाण— ये पाँच कल्याण, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु— इन पंच परमेष्ठियों के स्तोत्र-श्रेष्ठ शास्त्र-मोक्ष उत्पन्न करने वाला आत्म-स्वरूप का रक्षण-आत्मा के 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' ये तीन रत्न सभी मनुष्यों के शरीर में सदा विद्यमान रहने योग्य प्राण हैं। जो मनुष्य प्रेम पूर्वक इन प्राणों का चिन्तन करता है वह चतुर है। इसके विपरीत, अन्य वस्तुओं के चिन्तन करने वाले मूर्ख माने जा सकते हैं॥ १८ ॥

विवेचन—आत्मा चेतन है और संसार के सभी पदार्थ अचेतन। चेतन आत्मा का अचेतन कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से यह संसार चल रहा है। इस शरीर में दस प्राण बताये गये हैं-- पाँच इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र; तीन बल—मनोबल, वचनबल और कायबल आयु एवं श्वासोच्छ्वास। मूलतः प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। द्रव्यप्राण उपर्युक्त दस हैं, भावप्राण में आत्मा की विभाव परिणति से उत्पन्न पर्यायें हैं। जो व्यक्ति इन प्राणों के सम्बन्ध में न विचार कर पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्तवन, आत्म-स्वरूप चिन्तन, रत्नत्रय के सम्बन्ध में विचार करता है, वह अपने स्वरूप को पहचान सकता है।

भगवान् के गुणों के स्मरण से आत्मा की पूत भावनाएँ उद्बुद्ध हो जाती हैं। छुपी हुई प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं तथा पर पदार्थों से मोह बुद्धि कम होती है। तीर्थंकर भगवान् के पञ्च कल्याणकों का निरन्तर स्मरण करने से उनके पुन्यातिशय का स्मरण आता है तथा विकार और वासनाएँ जो आत्मा को विकृत बनाये हुये हैं, उनसे दूर होने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। प्रवृत्तिमार्ग में लगनेवाले साधक को शुभ प्रवृत्तियों में रत होना चाहिये। अशुभ प्रवृत्तियाँ बन्धन को दृढ़ करती हैं।

यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ बन्धन का कारण हैं, दोनों ही संसार में भटकानेवाली हैं। जहाँ अशुभ-प्रवृत्ति आत्मा को निवृत्ति मार्ग से कोसों दूर कर देती है, वहाँ शुभ-प्रवृत्ति उसके पास पहुँचाने में मदद करती है।

जो सुबुद्ध हैं, जिन्हें भेदविज्ञान हो गया है, जो पर पदार्थों की परता का अनुभव कर चुके हैं जिनका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं हैं और जो आत्मरत हैं वे आत्मा के भीतर सर्वदा वर्तमान रहनेवाले रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं।

मनुष्य का मन सबसे अधिक चंचल है, उसे स्थिर करने क लिये गुणस्तवन, रत्नत्रय के स्वरूप चिन्तन और निजपरिणति में लगाना चाहिये। स्वामी समन्तभद्र ने वीतराग प्रभु की गुणस्तुति से किस प्रकार पुण्य का बन्ध होता है, सुन्दर ढग से बताया हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थ—हे वीतरागी प्रभो ! आप न स्तुति करने से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा करने से वैर करते हैं किन्तु आपके पुण्य गुणों की स्मृति पापों से हमारी रक्षा कर देती है, हमारे मन को पवित्र निष्कलंक, और निर्मल बना देती है। अतः रत्नत्रय को

जाग्रत करनेवाले स्तोत्रों का पाठ करना निर्वाण भूमियों की वंदना करना, शास्त्र स्वाध्याय करना कल्याण के साधन हैं।

धनमं धान्यमनूटमं वनितेयं वंगारमं वस्त्र वा-
हनराजादिगळं सदा वयसुवी भ्रांतात्मरा पटियोळ्।
जिनरं सिद्धरनार्यवर्यरनुपाध्यायर्कळं साधुपा-
वनरं चिंतिसि मुक्तिगे कोदगरो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१९॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

भ्रान्ति में पड़ा हुआ आत्मा धन, भोजन, स्त्री, सोना, वस्त्र, वैभव, राज्य इत्यादि वस्तुओं के चिन्तन में मन न लगा पवित्र जिनेश्वर, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु का चिन्तन कर मोक्ष को क्यों नहीं प्राप्त हो जाता ? ॥ १९ ॥

विवेचन—यह आत्मा मिथ्यात्व के कारण संसार के बन्धन में अनादिकाल से जकड़ा हुआ है, इसने अपने से भिन्न पर-पदार्थों को अपना समझ लिया है, इससे भ्रान्त बुद्धि आ गयी है। जिस क्षण यह आत्मा धन, सोना, वस्त्र आदि जड़ पदार्थों को अपने से पर समझ लेता है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। धन पुद्गल है, इसका चेतन आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। कर्माच्छादित आत्मा भी जब इस शरीर में आता है तो अपने साथ किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं लाता। उसके पास एक पैसा

भी नहीं होता; अतः धन को पर समझ कर उससे मोह बुद्धि दूर करनी चाहिये।

मोह अपनी वस्तु पर होता है, दूसरे की पर नहीं। धन अपना नहीं, आत्मा का धन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो पौद्गलिक है। इसी प्रकार भोजन, वस्त्र भी आत्मा के नहीं हैं, आत्मा को किसी भी बाह्य भोजन की आवश्यकता नहीं है। इसे भूख नहीं लगती है और न यह खाती-पीती है, यह तो अपने स्वरूप में स्थित है। विज्ञान का भी नियम है कि एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता है। किसी भी द्रव्य में विकार हो सकता है, पर वह दूसरे द्रव्य के रूप में नहीं बदलता है। अतः आत्मा जब एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो चेतन है, ज्ञानवान है, अमूर्त्तिक है, फिर वह मूर्त्तिक भोजन को कैसे ग्रहण करेगा ?

यहाँ शंका हो सकती है कि जब आत्मा भोजन को ग्रहण नहीं करता तो फिर जीव को भूख क्यों लगती है ? इस संसार के सारे प्रयत्न इस क्षुधा को दूर करने के लिये ही क्यों किये जा रहे हैं ? मनुष्य जितने पाप करता है, बेईमानी, ठगी, धूर्तता हिंसा, चोरी उन सबका कारण यह क्षुधा ही तो है। यदि यह भूख न हो तो फिर विश्व में अशान्ति क्यों होती ? आज संसार

के बड़े-बड़े राष्ट्र अपनी लपलपाती जिह्वा निकाले दूसरे छोटे राष्ट्रों को हड़पने की चिन्ता में क्यों हैं ? अतः भूख तो आत्मा को अवश्य लगती होगी।

इस शंका का उत्तर यह है कि वास्तव में आत्मा को भूख नहीं लगती है, यह तो सर्वदा क्षुधा, तृषा आदि की बाधा से परे है। तब क्या भूख शरीर को लगती है ? यह भी ठीक नहीं। मरने पर शरीर रह जाता है, पर उसे भूख नहीं लगती! अतः शरीर को भूख लगती है, यह भी ठीक नहीं जँचता। अब प्रश्न यह है कि भूख वास्तव में लगती किसे है ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य के शरीर के दो हिस्से हैं—एक दृश्य दूसरा अदृश्य। दृश्य भाग तो यह भौतिक शरीर ही है और अदृश्य भाग आत्मा है। इस शरीर में आत्मा का आबद्ध होना ही इस बात का प्रमाण है कि आत्मा में विकृति आ गयी है, इसकी अपनी शक्ति कर्मों के संस्कारों के कारण कुछ आच्छादित हैं। इसके आच्छादन का कारण केवल भौतिक ही नहीं है और न आध्यात्मिक। मूल बात यह है कि अनन्त गुणवाली आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। इन अनन्त शक्तियों में एक शक्ति ऐसी भी है, जिससे पर के संयोग से यह विकृत परिणमन करने लगती है। राग-द्वेष इसी विकृत परिणति के परिणाम

हैं, जिससे यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों को अर्जित करती आ रही है।

कर्मों की एक मोटी तह आत्मा के ऊपर आकर मट गयी है जिससे यह आत्मा विकृत हो गयी है। इस मोटी तह का नाम कार्माण शरीर है, इसी में मनुष्य द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने की शक्ति वर्तमान है। भूख मनुष्य को इसी शरीर के कारण मालूम होती है, यह भूख वास्तव में न आत्मा को लगती और न जड़ शरीर को; बल्कि यह कार्माण शरीर के कारण उत्पन्न होती है। भोजन करनेवाली भी आत्मा नहीं है, बल्कि भोजन करनेवाला शरीर है। कर्म जन्य होने के कारण उसे कर्म का विपाक मानना चाहिये। भोजन जड़ है, इससे जड़ शरीर की ही पुष्टि होती है, चेतन आत्मा को उसमे कुछ भी लाभ नह ीं। यह भूख तो कर्म के उदय, उपशम से लगती है।

जब भोजन, वस्त्र, सोना, चाँदी आत्मा के स्वरूप नहीं, उनसे आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं, फिर इनसे मोह क्यों ? यों तो कार्माण शरीर भी आत्मा का नहीं है, और न आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार है, यह सदा चिदानन्द स्वरूप अखण्ड ज्ञानपिण्ड है। यह कर्म करके भी कर्मों से नहीं बन्धता है। व्यवहार नय से

केवल कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध कहा जाता है, निश्चय से यह निर्लिप्त है। जब तक व्यक्ति कर्म कर उस कर्म में आसक्त रहता है, उसका ध्यान करता रहता है, उसका बन्धक है। जिस क्षण उसे आत्मा की स्वतन्त्रता और निर्लिप्तता की अनुभूति हो जाती है उसी क्षण वह कर्म बन्धन तोड़ने में समर्थ हो जाता है।

वैभव, धन-सम्पत्ति, पुरजन-परिजन आदि सभी पदार्थ पर हैं, अतः इनसे मोहबुद्धि पृथक् कर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के गुणों का स्मरण करना निज कर्तव्य है। जब साधक अपने को पहचान लेता है, उसे आत्मा की वास्तविकता अनुभूत हो जाती है; तो वह स्वयं साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त और सिद्ध होता चला जाता है। आत्मा की प्रसुप्त शक्तियाँ अपने आप आविर्भूत होने लगती हैं, उसकी ज्ञान-शक्ति और दर्शन-शक्ति प्रकट हो जाती हैं। मन, वचन, काय की जो असत् प्रवृत्ति अब तक संसार का कारण थी, जिसने इस जीव के बन्धन को दृढ़ किया है, वह भी अब सत् होने लगती है तथा एक समय ऐसा भी आता है जब भोग प्रवृत्ति रुक जाती है, जीव की परतंत्रता समाप्त हो जाती है और निर्वाण सुख उपलब्ध हो जाता है।

संसार में आदर्श के बिना ध्येय की प्राप्ति नहीं होती है।

लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिये आदर्श की परम आवश्यकता है। आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये सबसे बड़ा आदर्श दिगम्बर मुनि ही, जो निर्विकारी है, जिसने संसार के सभी गुरुडम का त्याग कर दिया है जो आत्मा के स्वरूप में रमण करता है, जिसे किसीसे राग-द्वेष नहीं है, मान-अपमान की जिसे परवाह नहीं; हो सकता है। ऐसे मुनि के आदर्श को समक्ष रखकर साधक तत्तुल्य बनने का प्रयत्न करेगा तो उसे कभी न कभी छुटकारा मिल ही जायगा। दिगम्बर मुनि के गुणों की चरम अभि व्यक्ति तीर्थंकर अवस्था में होती है, अतः समस्त पदार्थों के दर्शक, जीवन्मुक्त केवली अर्हन्त ही परम आदर्श हो सकते हैं।

साधक के लिये सिद्धावस्था साध्य है, उसे निर्वाण प्राप्त करना है। चरम लक्ष्य उसका मोहक संसार से विरक्त होकर स्वरूप की उपलब्धि करना है। जब वह अपने सामने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप को रख ले, उनके विकसित गुणों में लीन हो जाय तो उसे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। आडम्बर जन्य क्रियाएँ जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, जो सिर्फ संसार का संवर्द्धन करने-वाली हैं, छूट जाती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अर्हन्त, सिद्ध,

आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के गुणों का स्तवन, वन्दन और अर्चन करना चाहिये।

पडेदत्तिल्लवे पूर्वदोळ्धनवधूराज्यादि सौभाग्यमं-।
पडेदें तन्नमकारदिं पडेदेनी संसार संवृद्धियं।
पडेदत्तिल्ल निजात्मतत्वरुचियं तद्बोध चारित्रं।
पडेदंदागळे मुक्तियं पडेयेने रत्नाकराधीश्वरा! ॥२०॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

क्या पहले धन, स्त्री, राज्य इत्यादि वैभव प्राप्त नहीं थे? और क्या इस समय वे वैभव प्राप्त हो गये हैं? क्या उन वैभवों के चमत्कार से इस संसार को स्मृद्धि प्राप्त हो गई है? पहले अपने आत्म-स्वरूप का विश्वास नहीं हुआ आत्मा में लीनता की प्राप्ति नहीं हुई। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की प्राप्ति से ही मनुष्य को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है॥ २०॥

विवेचन—इस जीव को अनादिकाल से ही धन, वैभव, राज्य आदि की प्राप्ति होती आई है। इसने जन्म-जन्मान्तरों से इन्द्रिय-जन्य सुखों को भोगा है, पर इसे आज तक प्रप्ति नहीं हुई। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-तृष्णा के कारण इन्द्रिय-सुखकी लालसा दिनो-दिन बढ़ती जाती है। यह जीव इन विषयों से कभी तृप्त नहीं होता। जैसे कुत्ता हड्डी को चबाकर अपने मसूड़े से निकले

रक्त से आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह विषयी जीव भी विषयों में अपनी शक्ति को लगाकर आनन्द का आस्वादन करता है। आनन्द पर पदार्थों में नहीं है यह तो आत्मा का स्वरूप है, जब इसकी अनुभूति हो जाती है, स्वतः आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

विषय तृष्णा मे इस जीव को अशान्ति के सिवाय और कुछ नहीं मिल सकता है, यह जीव अपने रत्नत्रय----सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भूलकर मदोन्मत्त हाथी के समान विषयों की ओर झपटता है। एक कवि ने इन्द्रियजन्य सुखों का वर्णन करते हुए बताया है कि ये विषय प्रारम्भ में बड़े सुन्दर म ।म होते हैं, इनका रूप बड़ा ही लुभावना है, जिसकी भी दृष्टि इनपर पड़ती है वहा इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है. पर इनका परिणाम हलाहल विष के समान होता है। विष तत्क्षण मरण कर देता है, पर ये विषय सुख तो अनन्त भवों तक संसार में परिभ्रमण कराते हैं। इनका फल इस जीव के लिये अत्यन्त अहितकर होता है। इसी बात को बतलाते हुए कहा है---

आपातरम्ये परिणामदु:खे सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि।
जडाऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी करोति विद्वान् यदुदर्कतर्कम्॥

इससे स्पष्ट है कि वैषयिक सुख परिणाम में दुःखकारक होता

है। इससे क्षणिक शान्ति जीव को भले ही प्रतीत हो, पर अन्त में दुःख ही होता है। गर्भवास, नरकवास के भयंकर दुःखों को यह जीव इसी क्षणिक सुख की लालसा के कारण उठाता है। जब तक विषाभिलासा लगी रहती है, आत्मसुख का साक्षात्कार नहीं हो सकता। जिन बाह्य पदार्थों में यह जीव सुख समझता है, जिनके मिलने से इसे प्रसन्नता होती है, और जिनके पृथक् हो जाने से इसे दुःख होता है क्या सचमुच में उनसे इसका कोई सम्बन्ध है? पर पदार्थ पर ही रहेंगे, उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जीव जब तक पर में अपनत्व रखता है तभी तक पर उनके लिये सुख, दुःख का कारण होता है, परन्तु जब पर से उसकी मोह बुद्धि हट जाती है तो उसे पर सम्बन्ध जन्य हर्ष विषाद नहीं होते।

ज्ञान, दर्शनमय संसार के समस्त विकारों से रहित, आध्यात्मिक सुख का भाण्डार यह आत्मतत्त्व रत्नत्रय की आराधना द्वारा ही अवगत किया जा सकता है। रत्नत्रय ही इस आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, वही इसके लिये आराध्य है। उसी के द्वारा इसे परम सुख की प्राप्ति हो सकती है।

ओरगिर्द कनसिंवे दुःखसुखदोळ्बाळ्वंते तानेळ्दु क-
ण्देरेदागळ्बयलप्प वोल्नरक तिर्यङ्मर्त्यदेवत्वदोळ् ॥

तरिसंदोप्पुव बाळ्केयी बयलबाळं नच्चि नित्यत्वमं ।
मरेवंतेकेयो निम्म नां मरेदेनो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सोया हुआ मनुष्य, स्वप्न में सुख-दुःख की स्थिति में संसार का जैसा अनुभव किये रहता है वैसा ही देखता है। पर आँखें खुलते ही स्वप्न के दृश्य नष्ट हो जाते हैं, अपना भूला हुआ स्वरूप याद आ जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय में निर्विवादतः चक्कर खाता हुआ यह जीव नाशवान शरीर के ऊपर प्रेम रखकर शाश्वत आत्म स्वरूप को भुला दिया जैसा मैंने अपने आपको क्यों भुला दिया है ? ॥२१॥

विवेचन—यह जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में निरन्तर अपने स्वरूप को भूले रहने के कारण भ्रमण करता चला आ रहा है। आत्मा शाश्वत है, कार्माण शरीर के कारण इसे अनेक नर, नारकादि पर्यायें धारण करनी पड़ती है। जब तक यह जीव विषयों के आधीन रहता है, जिह्वा स्वादिष्ट भोजन चाहती रहती है, नासिका को सुगन्ध अच्छी लगती है, कान को वारांगनाओं के गायन, वादन प्रिय मालूम होते हैं, आँखों को वनोपवन की सुषुमा अपनी ओर आकृष्ट करती है, त्वचा को सुगन्ध लेपन प्रिय लगता है तब तक यह जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता है। इन्द्रियों की गति बड़ी तेज है, ये अपनी ओर जीव

को खींच लेती हैं। इन्द्रियों को संचालित करनेवाला मन है, इसी के आधीन होकर इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है। भोजन, गायन-वादन, सुगन्ध लेपन, मनोहर अंगनाओं का निरीक्षण, सुन्दर सुगन्धित लेपन ये सब मन की ही माँगे हैं। मन की विषय-जन्य भूख इन्द्रियों के द्वारा पूरी की जाती है, अतः मन को जीतना सबसे आवश्यक है। मन की विषयों में गति-प्रति सेकण्ड एक अरब-तीन मील से भी अधिक है, यह सबसे तेज चलने वाला है। पत्येक रमणीक पदार्थ के पास, आसानी से पहुँच जाता है।

जब तक जीव इन्द्रियों और मन के आधीन रहता है, तब तक यह निरन्तर भ्रान्तिमान सुखों के लिये भटकता रहता है। कविवर बनारसीदास ने इन्द्रिय-जन्य सुखों के खोखलेपन का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है—

ये ही हैं कुमति के निदानी दुखदोष दानी,
इन ही की संगतिसों संग भार बाहिये।
इनकी मगनतासों विभोको विनाश होय,
इनही की प्रीति सों नवीन पन्थ गहिये॥
ये ही तन भाव कों बिदारै दुराचार धारैं,
इन ही की तपत विवेक भूमि दहिये।

ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीतै सोइ साधु,
इनको मिलायी सो तो महापापी कहिये ॥

अर्थ—इन्द्रियों और मन की पराधीनता कुगति को ले जानेवाली है, दुःख और दोषों को देनेवाली है। जो व्यक्ति इनकी आधीनता कर लेता है—पञ्चेन्द्रियों के आधीन हो जाता है वह नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। इन्द्रियों के विषयों में मग्न होने से आत्मा के गुण आच्छादित हो जाते हैं, व्यक्ति का वैभव लुप्त हो जाता है उसका सारा पराक्रम अभिभूति हो जाता है। इनसे—इन्द्रियों से प्रेम करने से अनीति के मार्ग में लगना पड़ता है। इन इन्द्रियों की आधीनता ही तप से दूर कर देती है, दुराचार की ओर ले जाती है, सन्मार्ग से विमुख कराती है। इन्द्रियों की आसक्ति ज्ञान रूपी भूमि को जला देती है, अतः जो इन इन्द्रियों को जीतता है, वही साधु है और जो इनके साथ मिल जाता है, इन्द्रियों के विषयों के आधीन हो जाता है, वह बड़ा भारी पापी है। इन्द्रियों की पराधीनता से इस जीव का कितना अहित हो सकता है, इसका वर्णन संभव नहीं। विवेकी जीवों को इन इन्द्रियों की दासता का त्याग कर स्वतन्त्र होने का यत्न करना चाहिये।

संसार में सबसे बड़ी पराधीनता इन इन्द्रियों की है। इन्होंने

जीव को अपने आधीन इतना कर लिया है कि जीव एक कदम भी आगे पीछे नहीं हट सकता है। इसी कारण जीव को चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। दिन-रात विषयाकांक्षा के रहने से इस जीव को कल्याण की सुध कभी नहीं आती। जब आयु समाप्त हो जाती है, मरने लगता है, आँखों की दृष्टि घट जाती है, कमर झुक जाती है, मुंह से लार टपकने लगती है तो इस जीव को अपनी करनी याद आती है, पश्चात्ताप करता है, पर उस समय इसके पछताने से कुछ होता नहीं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वा पर विचार कर चतुर्गति के भ्रमण को दूर करनेवाले आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहिये।

आत्मा में ज्ञान है, सुख है, शान्ति है शक्ति है, और है यह अजर-अमर। जो आत्मा सारे संसार को जानने, देखनेवाला है; जिसमें अपरिमित बल है, वह आत्मा मैं ही हूँ। मेरा संसार के विषयों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं जो अपने आत्म बल पर पूर्ण विश्वास कर आत्म शक्ति को प्रकट करने की चेष्टा करता है, उसे कोई भी विघ्न-बाधा विचलित नहीं कर सकती है। महान् विपत्तियों के समय भी उसकी आत्म श्रद्धा, विषय-विरक्ति और अटल विश्वास कल्याण से विमुख नहीं होने देते हैं। आत्मिक सुख शाश्वत है, चिरन्तन है इसे कोई भी मलिन नहीं

कर सकता है। अज्ञानावस्था में जो बन्ध किये हैं, उनके अतिरिक्त नवीन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं होगा इस प्रकार दृढ़ विश्वास कर नाशवान् शरीर से आस्था छोड़ जो आत्म-विश्वास में लग जाता है, उसका कल्याण अवश्य हो जाता है।

जब तक जीव आत्मिक सुख को भूल भ्रान्ति-वश इन्द्रिय सुख को अपना समझता है, दुःख का अनुभव करता है। पाप या कालुष्य उसे कल्याण से विमुख करते हैं। पाप और पुण्य उसके स्वभाव नहीं, बल्कि ये विपरीत प्रयत्नों के फल हैं। जब आत्मा अपने निजी रास्ते पर आ जाता है तो ये पाप और पुण्य नष्ट हो जाते हैं। जीव में जैसे-जैसे दृढ़ आत्म-विश्वास प्रकट होता जाता है, कर्म संयोग जन्य-भाव पृथक् होते जाते हैं। इन्द्रियों के मोहक रूपों को देखकर फिसल जाना कायरता है, सच्ची वीरता इन्द्रियों को अपने आधीन करने में है। भाग्य या अदृष्ट तो अपना बनाया हुआ होता है, जब तक उसे जीव अपना समझता है, बन्धन का कार्य करता है, परन्तु जब जीव उसे अपने स्व-भाव से पृथक् समझ लेता है और अपने आत्मा को उससे निर्लिप्त मान लेता है तो फिर आस्रव और बन्ध दोनों ही तत्त्व उससे अलग हो जाते हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है उसका बड़ा भारी

महत्त्व है। अतः साधक को सदा अपनी अपरिमित शक्ति पर विश्वास होना चाहिये। उसे इन्द्रियों की वासना को बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये द्रव्य प्राण शाश्वत ज्ञान, आनन्द, अनन्त शक्ति आदि भावप्राणों से बिल्कुल भिन्न हैं। आत्मा पुण्य पाप से भिन्न है, कर्मों का सम्बन्ध इसके साथ नहीं है। आस्रव, बन्ध और संवर आत्मा के नहीं होते हैं, किन्तु यह आस्रव और संवर तत्त्वों का ज्ञाता है। इस प्रकार शरीर से मोह दूर कर आत्मिक ज्ञान को जाग्रत करना चाहिये।

इंदनादवने समंतु बरिसं नूरोंदहं कोटियिं।
हिंदत्तत्तलनेककोटियुगदिंदत्तत्तलंभोधियिं॥
वंदत्तत्तलनादि कालदिननंताकारदिं तिर्रेनल्।
वंदें नोंदेननाथवंधु! सलहो रत्नाकराधीश्वरा!॥२२॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मैं जैसा इस समय शरीरधारी हूं वैसा अनादिकाल से इस संसार में शरीर धारण करता आ रहा हूँ। आवागमन का चक्र घड़ी के चक्र के समान निरन्तर चल रहा है। हे भगवन! आप दीन-बंधु हैं, आप मेरी रक्षा करें!॥ २२॥

विवेचन—जैन सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्ता

नहीं है और न यह किसी को सुख दुःख देता है, जीव स्वयं अपने अदृष्ट के अनुसार सुख, दुःख को प्राप्त करता है। जो जिस प्रकार के कृत्य करता है, कार्माण वर्गणाएँ उसी रूप में आकर आत्मा में संचित हो जाती हैं, और समय आने पर शुभ या अशुभ रूप में फल भी मिल जाता है। जब जीव स्वयं ही कर्त्ता और फल का भोक्ता है तो फिर अपनी रक्षा के लिये भगवान की प्रार्थना क्यों की गयी है ? भगवान तो किसी को सुख, दुःख देता नहीं, और न किसीसे वह प्रेम करता है। उसकी दृष्टि में तो पुण्यात्मा, पापात्मा, ज्ञानी, मूर्ख, साधु, असाधु सभी समान हैं। फिर प्रार्थना करनेवाले से भगवान प्रसन्न क्यों होगा ? वीतरागी प्रभु में प्रसन्नता रूपी प्रसाद संभव नहीं। जैसे वीतरागी प्रभु किसी पर नाराज नहीं हो सकता है, उसी प्रकार किसी पर प्रसन्न भी नहीं हो सकेगा। अतः अपनी रक्षा के लिये भगवान को पुकारना कहाँ तक संभव है ?

इस शंका का समाधान यह है कि भगवान की भक्ति करने से मन की भावनाएँ पवित्र होती हैं, भावनाओं के पवित्र होने से स्वतः पुण्य का बन्ध होता है ; जिससे जीव का उद्धार कुपति से हो जाता है। वास्तव में भगवान किसी का कुछ भी उपकार नहीं करते और न किसीको किसी भी तरह की सहायता देते

हैं। उनकी भक्ति, स्तुति, अर्चा ही मन को पूत कर देती है, जिससे जीव को पुण्य का आस्रव होता है और आगे जाकर या तुरन्त ही सुख की उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रकार निन्दा करने से भावनाएँ दूषित हो जाती हैं, विकार जाग्रत हो जाते हैं जिससे पापास्रव होता है अतः निन्दा करने से दुःख की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता वर्तमान है। मूलतः आत्मा शुद्ध है, इसमें परमात्मा के सभी गुण वर्तमान हैं। जब कोई भी जीव अपने सदाचरण, ज्ञान, और सद् विश्वास द्वारा अर्जित कर्म संस्कार को नष्ट कर देता है, अपने आत्मा से सारे कालुष्य को धो डालता है तो वह परमात्मा बन जाता है। जैन दर्शन में शुद्ध आत्मा का नाम ही परमात्मा है, आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। जब तक जीवात्मा कर्मों से बन्धा है, आवरण उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को ढके है, तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकता है। इन समस्त आवरणों के दूर होते ही आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। अतः यहाँ एक परमात्मा नहीं हैं, बल्कि अनेक हैं। सभी शुद्धात्माएँ परमात्मा हैं।

परमात्मा बनने पर ही स्वतन्त्रता मिलती है, कर्मबन्धन की

पराधीनता उसी समय दूर होती है। व्यवहार की दृष्टि से परमात्मा बनने में परमात्मा की भक्ति सहायक है। उनकी पूजा, गुण-स्तुति जीवात्मा को साधना के क्षेत्र में पहुँचा देती है। निश्चय की दृष्टि से जीवात्मा को अन्य किसी के गुणों के स्तवन की आवश्यकता नहीं, उसे अपने ही गुणों की स्तुति करनी चाहिये। अपने भीतर छुपे गुणों को उद्‌बुद्ध करना चाहिये। जीव निश्चय से अपने चैतन्य भावों का ही करता है और चैतन्य भावों का ही भोक्ता है। कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता तो व्यवहार की दृष्टि से है। अतः परमात्मा की शरण में जाना, पूजा करना आदि भी प्रारम्भिक साधक के लिये हैं; प्रौढ़ साधक के लिये अपना चिन्तन ही पर्याप्त है।

नाना गर्भदि पुट्टि पुट्टि पोरमट्टें रूपु जोहंगळ।
नानाभावदे तोट्टु तोट्टु नडेदें मेय्मेच्चिच दूटंगळं॥
नाना भेददोळु डुमुँडु तनिदें चिः सालदे कंडु मिं।
तेनय्या! तळुमळपरे? करुणिसा! रत्नाकराधीश्वरा!॥२३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

अनेक प्रकार के प्राणियों के कुक्षि में जन्म लेकर आया हूँ। नाना प्रकार के आकार और वेष को धारण किया है। शरीर के लिए नाना कार्य किये हैं, तथा आहारादि को खाते-खाते तृप्त हो गया हूँ। तो भी

इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। भगवन्! ऐसे दुःखियों को देख कर भी तुम दया नहीं करते, कृपा करो भगवन्! ॥ २३ ॥

विवेचन—भक्ति हृदय का रागात्मक भाव है। किसी महा पुरुष या शुद्धात्मा के गुणों में अनुराग करना भक्ति है। किन्तु शुभ भावात्मक भक्ति को ही धर्म समझ लेना अनुचित है। वास्तव में बात यह है कि शरीर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, यह अनन्त अचेतन पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। इसके प्रत्येक परमाणु के प्रत्येक गुण की प्रति समय में होनेवाली पर्याय इसमें स्वतन्त्र रूप से होती रहती है। आत्म-द्रव्य अरूपी, ज्ञायक स्वभाव-शरीर से भिन्न है, इसमें भी इसके प्रत्येक गुण की पर्याय प्रति समय में स्वतन्त्र रूप से होती रहती है। ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, दोनों के कार्य और गुण भी भिन्न-भिन्न हैं। एक द्रव्य की क्रिया के फल का दूसरे द्रव्य की क्रिया के फल से कोई सम्बन्ध नहीं। जो व्यक्ति बिना भावों के भक्ति करते हैं—शरीर से नमस्कार, मुँह से स्तोत्र-पाठ तथा मन जिनका किसी दूसरे स्थान में रहता है वे शरीर की क्रियाओं के कर्त्ता अपने को मानने के कारण अशुभ का बन्ध करते हैं। यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से यत्किञ्चित् शुभ का बन्ध उनके होता ही है, फिरभी वास्तविक धर्म के निकट वे नहीं पहुँच पाते हैं।

भाव सहित भक्ति करनेवाले भी पर द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता अपने को मानने के कारण यथार्थ धर्म से कुछ दूर रह जाते हैं। जब जीव अपने निज आत्म स्वभाव को पहचान लेता है कि "मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ, पर द्रव्य से मेरा कुछ भी हित, अहित नहीं हो सकता है, मेरा वास्तविक रूप सिद्ध अवस्था में प्रकट होता है, वही मैं हूँ, आत्मा अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता है। मैं त्रिकाल में समस्त द्रव्य को जानने, देखने वाला हूँ, मैं किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता, धर्त्ता नहीं हूँ। जो विकल्प इस समय आत्मा में उत्पन्न हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं। इस प्रकार का श्रद्धान सम्यग्दृष्टि जीव को होता है। सम्यग्दृष्टि अपने भीतर वीतरागता उत्पन्न करने के लिये पंचपरमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करता है, उनके गुणों में अनुरक्त होता है।

जब तक संसार और शरीर से पूर्ण विरक्ति नहीं होती है, आत्मा में अपनी निर्बलता के कारण विकल्प उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन विकल्पों को दूर करने के लिये पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त अरिहन्त और सिद्ध अथवा उनकी मूर्त्ति के सामने भक्ति से गद्-गद् हो जाता है, वह वीतरागता का चिन्तन करता हुआ वीतरागी बनता है। वीतरागी पथके पथिक आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु परमेष्ठियों ये गुणों से अनुरंजित होता है, जिससे

स्वयं उसे उस पथ की प्राप्ति होती है। यहाँ भक्ति का अर्थ यह नहीं है की अन्य द्रव्य द्वारा अन्य का उपकार किया जाता है, बल्कि अपने मूल द्रव्य की आच्छादित सामर्थ्य को व्यक्त करना है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते॥
आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या॥
जातोऽस्मि तेन जनबान्धवदुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥३८॥

अर्थात्—हे भगवान्! जड़ इन्द्रिय रूपी नेत्रों से तो आपके अनेक बार दर्शन किये किन्तु मोहान्धकार से रहित ज्ञानरूपी नेत्रों से आपका एक बार भी दर्शन नहीं किया अर्थात् शुद्धात्मा को आपके समान कभी नहीं देखा; इसीलिये हे प्रभो! दुःखदायी मोह-भवों से सताया जा रहा हूँ।

हे भगवन्! अनेक जन्म-जन्मान्तरों में मैंने आपका दर्शन,

पूजन, स्तवन किया होगा, पर भक्ति सहित आपका दर्शन, पूजन और स्तवन कभी नहीं किया। यदि ज्ञाता, द्रष्टा आत्मा की निज परिणति रूप भावना के साथ हे प्रभो आपके गुणों को अपने हृदय में धारण करता तो निज शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती। मैं अब तक अपने स्वभाव से विमुख होकर संसार के दुःखों का पात्र बना रहा; क्योंकि भाव रहित---स्व स्वभाव की भावना रहित क्रियाएँ फल दायक नहीं हो सकती।

अभिप्राय यह है कि साधक भगवान् के समक्ष अपने शुद्ध चिदानन्द रूप स्वरूप को समझते हुए वर्तमान पुरुषार्थ की निर्बलता को दूर करनेका प्रयत्न करे, भगवान् के शुद्ध गुणों में अनुरक्त होकर अपने पुरुषार्थ को इतना तीव्र कर दे जिससे उसे अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हो जाय। उसके भीतर छुपी वीतरागता प्रकट हो जाय; मोह-क्षोभ का पर्दा हट जाय। भगवान के पुण्य गुणों का कीर्त्तन अपने शुद्ध आत्मा के गुणों का कीर्त्तन है, उनकी भक्ति अपनी ही भक्ति है। जब तक साधक बहिरंग दृष्टि रखकर मोहावृत्त रहता है, अपने मूल स्वभाव से दूर हटता जाता है, तब तक उसे भगवान की यथार्थ शक्ति नहीं मिलती।

व्यावहारिक दृष्टि से भी बिना भावनाओं के शुद्ध किये भक्ति करने से कोई लाभ नहीं। यह अनेक जन्म-जन्मान्तरों

से भावना शून्य-भक्ति करता चला आ रहा है, पर अब तक इसका उद्धार नहीं हुआ। प्रभु भक्ति करनेवाला संसार में कभी दुःखी, दरिद्री, रोगी, पातकी नहीं हो सकता है। उसकी कषायें मन्द हो जाती हैं! भगवान् की मूर्त्ति की अनुकम्पा से कलुषित भावनाएँ हृदय से निकाल जाती हैं, और वह शुद्ध हो जाता है। स्वामी कुन्द-कुन्द ने अपने प्रवचनसार में बताया है—

"जो अरिहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह अपने आप को जानता है और उसका मोह अवश्य नष्ट हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो अरिहन्त का स्वरूप है, स्वभाव दृष्टि से वही आत्मा का स्वरूप है जो इस बात को समझ कर दृढ़ आस्था कर लेता है, वह अपने पुरुषार्थ की वृद्धि द्वारा अपने चारित्र को उत्तरोत्तर विकसित करता चला जाता है। मोह अरिहन्त की भक्ति से दूर हो जाता है। आत्मा के गुणों को आच्छादित करने वाला मोह ही सब से प्रबल है, इसके दूर किये बिना निर्मल चारित्र की उपलब्धि नहीं हो सकती है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति करने से निजानन्द की प्राप्ति होती है, सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, आत्मा का ज्ञान गुण प्रकट होता है और सदाचार की प्राप्ति होती है।

प्रभु-भक्ति वह रसायन है जिसके प्रभाव से अज्ञान, दुःख,

दैन्य, स्वभाव-हानि, पर परिणति की ओर जाना, मिथ्या प्रतिभास आदि बातें दूर हो जाती हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य-रूप निज परिणति की प्राप्ति होती है। ऐसा कौन सा लौकिक कार्य है जो प्रभु-भक्ति के प्रसाद से न किया जा सके। भक्त का हृदय दर्पण के समान निर्मल हो जाता है, उसकी अपनी समस्त शक्तियाँ उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

अय्यो ! कुत्सितयोनियोळ्नुसुळ्वु देत्तानेत्त चिः नारु वी।
मेय्येत्तेन्नय निर्मल प्रकृतियेन्ति देहज व्याधियिं ॥
पुय्यल्वेत्तिहुदेत्त लेन्न निजवेत्तोय्देन्न निम्मत्त द-
म्मय्या रक्षिसु रक्षिसा तळुविदें रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२४॥

हे रत्नाकराधीस्वर !

मल और दुर्गन्ध से युक्त इस निंद्य शरीर में जाने के लिये क्या मैंने कहा ? कि मेरा स्वभाव परिशुद्ध है ? क्या मैंने नहीं कहा कि इस शरीर से रोग और रोग से दुःख उत्पन्न होता है ? क्या मैंने नहीं कहा कि मेरा यथार्थ ऐसा स्वरूप है ? हे धर्माधिपते ! अपने हाथ का सहारा देकर आप मेरी रक्षा करें, इसमें विलम्ब क्यों प्रभो ! ॥ २४ ॥

विवेचन—यह जीव अपनी स्वपरिणति को भूलकर, अपने पुरुषार्थ से च्युत होकर इस निंद्य शरीर को धारण करता है। शरीर मल मूत्र का ढेर है, नितान्त अपवित्र है, जड़ है, इसका

आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। परन्तु मिथ्यात्व के वश जन्म-जन्मान्तरों से जो संस्कार अर्जित चले आ रहे हैं, उन्हीं के कारण इस जीव को इस निद्य शरीर को धारण करना पड़ता है। यह जीव इस शरीर को धारण नहीं करना चाहता है, यह इसके स्वभाव से विपरीत होने के कारण अनिच्छा से प्राप्त हुआ है। अतः जब तक इस पर वस्तु रूप शरीर में अपनत्व की प्रतीति यह जीव करता रहेगा तब तक यह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

शरीर के साथ रोग, शोक, मोह आदि नाना प्रपंच लगे हुए हैं। ये सब प्रतिक्षण परिणमन वाले पुद्गल की पर्यायें हैं। शरीर भी पौद्गलिक है और दुःख, शोक, रोग आदि भी पुद्गल के विकार से उत्पन्न होते हैं अतः जीव को सर्वदा रोग, शोक आदि को पर मात्र समझ कर इनके आने पर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये। साधक में जब तक न्यून्यता रहती है, वह अपने भीतर पूर्ण वीतराग चारित्र का दर्शन नहीं करता है, तब तक उसे पूर्ण-वीतराग चारित्र के धारी प्रभुओं की भक्ति करनी होती है।

भगवान के आदर्श से स्वतः अपने भीतर के गुणों को जाग्रत करना साधक का काम है। साधक भगवान को मोह,

राग, द्वेष, जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि से रहित समझ कर उनके आदर्श द्वारा अपने को भी इन्हीं दोषों से रहित बनाता है। वह सोचता है कि हे प्रभो ! जो गुण तुम्हारी आत्मा में हैं, वे मेरी भी आत्मा में हैं, पर मैं उन्हें भूला हुआ हूँ। प्रभो ! तुम्हारे गुणों का चिन्तन करने से मुझे अपने गुणों का भान हो जाता है और उससे मैं 'स्व' और 'पर' को पहचानने लगता हूँ। इस कारण मैं अनेक आपदाओं से बच जाता हूँ। मैं आपके गुणों के मनन से शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, धन, वैभव आदि मेरे स्वभाव से विपरीत हैं, इस बात को भली भाँति समझ जाता हूं। प्रभो ! जीवन का ध्येय समस्त दूषण और संकल्प-विकल्पों से मुक्त हो जाना है। शुभ और अशुभ विभाव परिणति जब तक आत्मा में रहती है, अपना निजी प्रति-भास नहीं होता। अतः हे प्रभो ! आपके गुण कीर्त्तन द्वारा अपने पराये का भेद अच्छी तरह प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार की भक्ति करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति का उत्थान अपने हाथ में है। भगवान भक्त के दुःख को या जन्म मरण को दूर नहीं करते, क्योंकि वे वीतरागी हैं, कृतकृत्य हैं, संसार के किसी भी पदार्थ से उन्हें राग-द्वेष नहीं, पर उनके गुणों का स्मरण, मनन,

चिन्तन और पर्यायलोचन करने से शुद्धात्मा की अनुभूति होने लगती है जिससे जीव स्वतः अपने कल्याण मार्ग में लग जाता है साधक के चंचल मन को भक्ति स्थिर कर देती है, भक्ति के अवलम्बन से साधक अपनी अनुभूति की ओर बढ़ता है। यही भगवान की रक्षा करना है, यही उनका साधक को सहारा देना है ।

दारिद्र्य कविदंदु पायुदु परेगळ्मासंकेगोंडंदु दु-
विर व्याधि गळोत्तिदंदु मनदोळ् निर्वेग मक्कुं वळि- ॥
क्कारोगं कळेदंदु वैरि लय वादंदर्भ वादंदि दें- ।
वैराग्यं तलेदोर दंडिसुवुदो ! रत्नाकरा धीश्वरा ! ॥२५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दरिद्रता के समय, शत्रु के आक्रमण से भयभीत हो जाने के समय तथा दुसाध्य रोग से आक्रान्त हो जाने से मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न होता है। किन्तु व्याधि के नष्ट होने, शत्रु के परास्त होने तथा सम्पत्ति के पुनः प्राप्त होने पर यदि वैराग्य उत्पन्न न हो तो संसार से पृथक् नहीं हुआ जा सकता, भावार्थ यह कि सुख में वैराग्य का उत्पन्न होना श्रेयस्कर है ! ॥ २५ ॥

वीचन—मनुष्य को दुःख आने पर, दरिद्रता से पीड़ित होने पर, असाध्य रोग के हो जाने पर, किसी बड़े संकट के आने पर, तथा किसी की मृत्यु हो जाने पर संसार से विरक्ति होती है ।

वह संसार की क्षणभंगुरता, स्वार्थपरता और उसके संघर्षों को देखकर विचलित हो जाता है, इन्हें आत्मा के लिये अहित कर समझता है।

क्षणिक विरक्ति के आवेश में संसार का खोखलापन सामने आता है। सुख भोग असार है, अनित्य और नाशवान् हैं। ये सर्वदा रहने वाले नहीं; आज जो धन के मद में चूर, लक्ष्मी का लाल माना जाता है, कल वही दर-दर का भिखारी बन जाता है; आज जो जवान है, अकड़कर चलता है, एक ही मुक्के से सैकड़ों को धराशायी कर सकता है, कल वही बुढ़ापे के कारण लकड़ी टेक कर चलता हुआ दिखलायी पड़ता है। जो आज सुन्दर स्वस्थ है जिसे सभी लोग प्रेम करते हैं, वही कल रोगी होकर बदसूरत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यौवन, धन, शरीर, प्रभुता, वैभव ये सब अनित्य और चंचल हैं, अतः दुःख के कारण हैं। शरीर में रोग, लाभ में हानि, जीत में हार, भोग में व्याधि, संयोग में वियोग, सुख में दुःख लगा हुआ है।

विषय भोगों में भी सुख नहीं। ये केले के पत्ते के समान निस्सार हैं, मनुष्य मोहवश इनमें फँसा रहता है। जब मृत्यु आती है तो मनुष्य को इन विषय भोगों से पृथक् होना ही

पड़ता है। अतः अपनी आत्मा को संसार के सब पदार्थों से भिन्न समझकर इन विषय भोगों से विरक्त जीव पृथक् होता है। जब तक यह श्मशान वैराग्य—क्षणिक वैराग्य रहता है, जीव कल्याण की ओर जाता है। किन्तु जैसे ही सांसारिक सुख उसे मिले, मोहवश वह सब कुछ भूल जाता है। इन्द्रिय सुखों के प्राप्त होने पर आत्मिक सुख को यह जीव भूल जाता है। अतएव सुख के दिनों में भी संसार और शरीर से विरक्ति प्राप्त करनी चाहिये। सुख का वैराग्य स्थिर होता है, साधक इस प्रकार के वैराग्य द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर लेता है। वह अनित्य और नाशवान् पदार्थों से पृथक् हो जाता है, पर को अपना समझने रूप मिथ्या प्रतीति उसकी दूर हो जाती है। स्त्री, पुत्र, धन, यौवन, स्वामित्व प्रभृति पदार्थों की अनित्यता उसके सामने आ जाती है। इन पर पदार्थों में जो उसका मोह हो गया है, उससे भी वह दूर हो जाता है। वह सोचता है कि मेरा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। स्त्री, पुत्र, रिश्तेदार आदि की आत्माओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैंने मोह के कारण इन पर पदार्थों में आत्म-बुद्धि कर ली है, अतः इस मोह को दूर करना चाहिये।

वैसे तो ये पदार्थ मेरे हैं ही नहीं, ये तो स्वतन्त्र अपना

आस्तित्व रखते हैं, अतः इन्हें मैं अपना क्यों समझ रहा हूँ। ये कुटुम्बी आज मेरे हैं, कल नहीं भी रहेंगे। दूसरा शरीर धारण करने पर मुझे दूसरे कुटुम्बी मिलेंगे अतः यह रिश्ता सच्चा नहीं, झूठा है। संसार स्वार्थ का दास है, जब तक मुझ से स्वार्थ की पूर्त्ति दूसरों की होती है, तब तक वे मुझे भ्रमवश अपना मानते हैं, स्वार्थ के निकल जाने पर कोई किसीको नहीं मानता। अतः मुझे अपने स्वरूप में रमण करना चाहिये।

मेय्योळ्तोरिद रोगदिं मनके बंदायासदिं भीति ब –
ट्ट्य्यो ! ए'दोडे सिद्धियें जनकनं तायं पलुंवल्क दे– ॥
गेय्यल्कार्परो तावु मुम्मळिसुवकूडेंदोडा जिन्हेये–
म्मय्या ! सिद्धजिनेशयंदोडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

शरीर के दुःख से दुःखित होकर अपनी व्यथा को प्रकट करने के लिए मनुष्य 'हा' ऐसा शब्द करता है। किन्तु ऐसा कहने से क्या अपने स्वरूप की प्राप्ति होगी ? रोग से आक्रान्त होकर यदि माता-पिता का कोई स्मरण करे तो क्या वैसा करने से उसको रोग से छुटकारा मिलेगा ? जो लोग ऐसा करते हैं वे अपने लिए दुःख को ही बुलाते हैं। ऐसा समझ कर ऐसे समय में जो अपने पूज्यसिद्ध, परमेष्ठी जिनेश्वर का

स्मरण करता है वही सुख का अनुभव करता है ॥२६॥

विवेचन— शारीरिक कष्टके आने पर जो व्यथा से पीडित होकर हाय-हाय करते हैं, उसमे अशुभ कर्मोंका और बन्ध होता है। रोग और विपत्ति में विचलित होने से संकट और बढ जाता है अतः धैर्य और शान्ति के साथ कष्टों को सहन करना चाहिये। सहन शीलता एक ऐसा गुण है, जिससे आत्मिक शक्तिका विकाश होता है। दुःख पड़ने पर पश्चाताप या शोक करने से असाता वेदनीय—दुःख देनेवाले कर्मका आस्रव होता है। श्री आचार्य उमास्वामि महाराजने बताया है।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन निज आत्मा में, पर में या दोनों में स्थित असातावेदनीय के बन्ध हेतु हैं। बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है। किसी हितैषी के सम्बन्ध छूटने से जो चिन्ता व खेद होता है वह शोक कहलाता है। अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है वह ताप कहलाता है। गदगद् स्वर से आंसू बहाते हुए रोना-पीटना आक्रन्दन है। किसी के प्राण लेना बध है, किसी व्यक्ति का विछोह हो जाने पर उसके गुणों का स्मरण कर करुणा-जनक क्रन्दन करना परिवेदन है। इन छः प्रकार के दुःखों के करने

से तथा इन्हीं के समान ताड़न, तर्जन, चिन्ता, शोक, रुदन, विलाप आदि के करने से असाता वेदनीय का आस्रव होता है। इस कर्म के उदय से जीव को कष्ट ही भोगना पड़ता है। अतः दुःख के आजाने पर उससे विचलित न होना चाहिये उसके क्षमा होने का एकमात्र उपाय सहनशीलता है। दुःख पश्चात्ताप या क्रन्दन करने से घटता नहीं, आगे के लिये और भी अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, जिससे यह जीव निरन्तर पाप पंक में फसता जाता है।

साधक को दुःख होने पर भी अविचलित रूप से शुद्ध आत्म के रूप सिद्धपरमेष्ठी का चिन्तन करना चाहिये। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अगुरुलघुत्व इन गुणों के धारी सिद्ध परमेष्ठी का विचार करना तथा संसार से विरक्ति प्राप्त कर आत्मोत्थान करना ही जीवन का ध्येय है। दुःख तभी तक होता है, जबतक परपदार्थों से मोह रहता है। मोह के वशीभूत होकर ही यह जीव अन्य पदार्थों में, जोकि इससे सर्वथा भिन्न हैं, अपनत्व बुद्धि करता है, इसीसे अन्य के संयोग-वियोग में सुख-दुःख का अनुभव होता है। जब यह शरीर ही अपना नहीं तो दूरवर्ती स्त्री, पुत्र, धन, वैभव कैसे अपने हो सकते हैं? मोहवश परपदार्थों से अनुरक्ति करना व्यर्थ है। दुःख आत्मा में कभी उत्पन्न ही नहीं होता यह आत्मा सदा

सुखस्वरूप है, की प्रतीति कराने के लिये आचार्य ने सहन-शीलता का उपदेश दिया है। साधारण व्यक्ति आत्मा को कर्मों के आवरण से आच्छादित मानता हुआ असाता वेदनीय कर्म के उदय से दुःख का अनुभव करता है। निश्चय दृष्टि से इस जीव को दुःख कभी नहीं होता है। आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण की उत्पत्ति हो जाने पर कर्म और संसार का स्वरूप विचारने से अपने निज तत्त्व की प्रतीति होने लगती है। कविवर भूधरदास जी अपने जैनशतक में कर्म के उदय को शान्ति पूर्वक सहन करने का सुन्दर उपदेश दिया है। कवि कहता है।

आयो है आचानक भयानक आसाताकर्म,
ताके दूर करनेको वली कोन अह रे।
जे जे मनभाये ते कमाये पूर्व पापआप,
तेई अब आये निज उदै काल लह रे॥
एरे मेरे वीर! काहे होत है अधीर यामें,
कोऊ को न सीर तू अकेलो आप सह रे।
भये दिलगीर कछू पीर न विनसि जाय,
याही तैं सयाने तू तमासगीर रह रे॥

अर्थ— जब अचानक असाता कर्म का उदय आ जाता है,

तब उसे कौन दूर कर सकता है। वह असाता कर्म भी इस जीव के द्वारा पहले अर्जित किया गया है, तभी वह आज उदय में आ रहा है ? कवि कहता है कि अरे धीर, वीर जीवात्मा तू घबड़ाता क्यों है। जिसप्रकार को शुभ, अशुभ भावनाओं के द्वारा तूने कर्म कमाये हैं, उसी तरह का शुभाशुभ फल भोगना पड़ेगा। कर्मफल को कोई बांटनेवाला नहीं है. यह तो अकेले ही भोगना पड़ेगा। अरे चतुर तू क्यों तमासगीर बन कर नहीं रहता है; कर्मफल में सुख-दुःख क्यों करता है ? यह तेरा स्वरूप नहीं, तू इससे भिन्न है।

असाता जन्य कर्मफल शान्ति और धैर्य के साथ सहन करने से ही जीव अपना उत्थान कर सकता है, दुःख भी कुछ कम प्रतीत होता है। विचलित होने से दुःख सदा बढ़ता चला जाता है, जीव को बेचैनी होती है। नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, जिससे दिन रात आर्त्त और रौद्र परिणाम रहते हैं। विपत्ति के समय संसार की सारहीनता का विचार करना चाहिये। सोचना चाहिये कि जो कष्ट मेरे ऊपर आये हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस शरीर को नाना कष्ट मिलते चले आ रहे हैं। इसने नरक में भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि के नाना कष्टों को सहन किया है। नरक की भूमि के छूने से ही

हजारों बिच्छुओं के काटने के समान दुःख होता है। इसने, नरक की पीप और खून की नदियों में जिन में कीड़े बिल-बिलाते रहते हैं स्नान किया है।

नारकी जीवों को भयानक गर्मी और शर्दी का दु;ख सहन करना पड़ता है। नरकों में इतनी गर्मी और शर्दी पड़ती है जिससे सुमेरु पर्वत के समान लोहे का गोला भी जलकर राख हो सकता है। इस जीव को वहाँ गर्मी और शर्दी से उत्पन्न असंख्य वेदना सहन करनी पड़तो है। जब यह गर्मी से घबड़ा कर शेमल वृक्षों की छाया में विश्रान्ति के लिये जाता है तो शेमल वृक्ष के पत्ते तलवार की धार के समान उस पर गिर कर शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। नारकी जीव स्वयं भी आपस में खूब लड़ते हैं और एक दूसरे के शरीर को काटते हैं। कभी किसीको घानी में पेलते हैं, कभी गर्म तेल के कड़ाह में डाल देते हैं' तो कभी ताँबा गर्म कर किसी को पिलाते हैं, इस प्रकार नाना तरह के दुःख आपस में देते हैं।

नरकों में भूख-प्यास का भी बड़ा भारी कष्ट मालूम होता है। वहाँ भूख इतनी लगती है कि समस्त संसार का अनाज मिलने पर खाया जा सकता है, किन्तु एक कण भी खाने को नहीं मिलता है। समुद्र का पानी मिल जाने पर पीया जा सकता है, परन्तु

एक बूंद भी पानी पीने को नहीं मिलता। वहाँ अन्न-पानी का बड़ा भारी कष्ट है, इसके अलावा शारीरिक, मानसिक नाना प्रकार के कष्ट होते हैं, अतएव सोचना चाहिये कि संकट में मैं क्यों विचलित हो रहा हूँ। मेरी आत्मा का इस पीड़ा या व्यथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा न कभी कटती है, न जलती है, न मरती है, न गलती है। यह नित्य, अखण्ड ज्ञान स्वरूप है। मुझे अपने स्वरूप में लीन होना चाहिये, इस शरीर के आधीन होने की मुझे कोई अवश्यकता नहीं। अतः विपत्ति के समय अर्हन्त और सिद्ध का चिन्तन ही कल्याणकारी हो सकता।

तायं तंयनासेवट्टळुते सावंसत्तु बेरन्यरा- ।
कायंवोक्कोगेयं वळिक्कवरुमं तायतंदेयेंदप्पि कों- ॥
डायेंदाडुबनित्तलंदु पडेदर्गिच्छै सनात्मंगिदें ।
माया मोहमो पेळ्वुदेननकटा ! हे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मृत्यु के समय मनुष्य माता-पिता-स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम के वश में होकर रुदन करते हुए शरीर का त्याग करता है। वह पुनः अन्यत्र शरीर धारण करता है। इस जन्म के माता पिता उसे प्यार करते हैं, उस के शरीर से चिपकते हैं और उस के साथ प्रेम भरी बातें करके विनोद करते हैं। इसप्रकार मनुष्य अपने पूर्व जन्म के माता-पिता को

भूल जाता है, उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं करता। आत्मा के लिये मोह, अज्ञान, और माया से उत्पन्न यह कितना बड़ा भ्रम है ? ॥ २७ ॥

विवेचन— आचार्य ने उपर्युक्त श्लोक में आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता बतलायी है। जीव एक भव के माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि को रोते, बिलखते छोड़ दूसरे शरीर में चला जाता है। जब यह दूसरे शरीर में पहुंचता है तो उस भव के माता-पिता इसके स्नेही बन जाते हैं तथा यह पहले भव—जन्म के माता-पिता से प्रेम छोड़ देता है। इस प्रकार इस जीव के माता-पिता अनन्तानन्त हैं, मोहवश यह अनेक सगे सम्बन्धियों की कल्पना करता है। वास्तव में इसका कोई भी अन्य अपना नहीं है, केवल इसके निजी गुण ही अपने हैं। अतः संसार के विषय-कषाय और मोह-माया को छोड़ आत्म-कल्याण और धर्म साधन की ओर झुकना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। श्रीभद्राचार्यने सार समुच्चय में धर्म साधन की महिमा तथा उसके धारण करने की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है।

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापार मन्यतः।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः ॥
क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्म परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः ॥

धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव ।
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः ।
जीवन्तो ऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
अस्मिन् पीते परम सौख्यं जीवानं जायते सदा ॥

अर्थ— संसार के अन्य व्यापारों कार्यों और प्रयत्नों को छोड़कर धर्म में सदा लगे रहना चाहिये। धर्म ही मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सुखका साधन है। निश्चय हीं धर्म के द्वारा निर्वाण मिल सकता है, इसी के द्वारा स्वानुभूति हो सकती है। अतएव एक क्षण के लिये भी सद्धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। जरा भी असावधानी होने से कषाय, इन्द्रियासक्ति और मन की चंचलता आत्मनुभूति रूपी धन को चुरा लेगीं, अतएव साधक को या अपना हित चाहनेवाले को कषाय और इन्द्रिया-सक्ति से अपनी रक्षा करनी चाहिये। आत्मा के अखण्ड चेतन स्वभाव को विषय-कषायें ही दूषित करती हैं, अतः इनका त्याग देना आवश्यक है। सच्ची वीरता इन विकारों के त्यागने में ही है।

जबतक आयु शेष है, शरीर में साधन करने की शक्ति है, इन्द्रिय नियंत्रण करना चाहिये। आयु के समाप्त होने पर इस शरीर

द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता है। यह नरभव कल्याण करने के लिये प्राप्त हुआ है, इसको यों ही बरबाद कर देना बड़ी भारी मूर्खता है। जो व्यक्ति धर्माचरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी मृत्यु नहीं मानी जाती; क्योंकि उन्होंने आत्मा और शरीर की भिन्नता को समझ लिया है। कर्मों के रहने पर भी भेद-विज्ञान द्वारा आत्म-स्वरूप को जान लिया हैं अतः उनकी मृत्यु नहीं मानी जाती, किन्तु जो पाप कर्म में लिप्त है, जिसे आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं मालूम और जो निज रूप की प्राप्ति के लिये यत्न नहीं कर रहा है वह जीवित रहते हुए भी मृत के समान है। अतएव दुःख, आतंक, अज्ञान, मोह भ्रम आदि को दूर करनेवाले धर्म रूपी अमृत का सर्वदा सेवन करना चाहिये, क्योंकि इस धर्मामृत के पीते ही जीवों को परम सुख की प्राप्ति होती है। धर्म के समान कोई भी सुखदायक नहीं है। इसी से मोह-माया, अशान्ति दूर हो सकती है।

स्रीयं मक्कळनेंतगल्वे निवर्गारुं टेंदु गोळ्दिक-
एवायं विट्ळिवं वळिक्कुदयिपं तानत्त बेरन्यरोळ् ॥
प्रायंदाळ्दु विवाहमागि सुतरं सुदाडुवं सुम्निना।
स्रोयं मक्कळनागलेके नेनेयं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

"स्त्री और पुत्र को छोड़ करके कैसे जाऊँ, इनको दूसरा कौन है" इस प्रकार दुःख को प्राप्त होते हुए आँख और मुंह खोल कर मनुष्य मर जाता है। उसके बाद फिर जन्म धारण करता है, यौवन को प्राप्त होता है, शादी करता है और बच्चे उत्पन्न होते हैं। बच्चों का मुंह चूम कर आनन्दित होता है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के स्त्री-पुत्र का क्यों नहीं स्मरण करता? ॥२८॥

विवेचन—मृत्यु के समय मनुष्य मोह से वशीभूत हो कर अपने स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धुओं से वियोग होने के कारण अत्यन्त दुःखी होता है। वह रोता है कि हाय! मेरे इन कुटुम्बियों का लालन-पालन कौन करेगा? अब, मेरे बिना इनको महान् कष्ट होगा, इस प्रकार विलाप करता हुआ संसार से आँखें बन्द कर लेता है। लेकिन दूसरे जन्म में यही जीव अन्य माता-पिता, स्त्री, पुत्र, सगे-सम्बन्धियों को प्राप्त होता है, उनके स्नेह में अत्याधिक तल्लीन हो जाता है, अतः पहले भव के सगे-सम्बन्धियों को बिलकुल भूल जाता है। फिर मोह क्यों?

संसार में जितने भी नाते-रिश्ते हैं वे स्वार्थ के हैं। जब तक स्वार्थ है, तब तक अनेक व्यक्ति पास में एकत्रित होते हैं। स्वार्थ के दूर होते ही, सब अलग हो जाते हैं। वृक्ष जब तक हरा-भरा

रहता है, पक्षी उसपर निवास करते हैं, वृक्ष के सूख जाने पर एक भी पक्षी उस पर नहीं रहता, इसी प्रकार जब तक स्त्री, पुत्र, माता पिता आदि कुटुम्बियों का स्वार्थ सिद्ध होता है अपने बनते हैं। स्वार्थ के निकल जाने पर मुंह से भी नहीं बोलते हैं; अतः कोई भी अपना नहीं है। यह जीव अकेला ही सुख, दुख का भोक्ता है। कविवर बनारसी दास जी ने उपर्युक्त भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है।

मातु, पिता सुत बन्धु सखीज ;
मीत हितू सुख काम न पीके ।
सेवक साज मतंगज बाज,
महादल राज रथी रथनीके ॥
दुर्गति जाय दुखी विललाय,
पैर सिर आय अकेलहि जीके ।
पंथ कुपंथ गुरू समझावत,
और सगे सब स्वारथहीके ॥

अर्थ—माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु, मित्र, हितैषी कोई भी अपना नहीं है; सब स्वार्थ के हैं। सवेक संगी-साथी, मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, रथ, मोटर, आदि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं,

वे सब इस जीव के नहीं हैं। आवश्यकता पड़ने पर इनसे आत्मा का कुछ भी उपकार नहीं हो सकता है। यह जीव अकेला ही अपने कृत्यों के कारण दुर्गति या सद्गति को प्राप्त होता है, इस के सुख, दुःख का कोई साझीदार नहीं। सभी स्वार्थ के साथी हैं, दुःख-विपत्ति में कोई किसी का नहीं।

जब मनुष्य को आत्मबोध हो जाता है, राग-द्वेष दूर हो जाते हैं, संसार की वस्तु-स्थिति उसकी समझ में आजाती है तब वह कामिनी और कंचन से विरक्त हो आत्म-चिन्तन में लग जाता है। अनेक भावों से लेकर इस जीव ने अबतक विषय भोगे हैं, नाना प्रकार के रिश्ते ग्रहण किये हैं, पर क्या उन भोगों से और उन रिश्तों से इसको शान्ति और संतोष हुआ? क्या कभी इसने अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर अपने कर्त्तव्य को समझा? यदि एक बार भी यह जीव अपने जीवन का विश्लेषण कर लें, उसके रहस्य को समझ ले तो फिर इसे इतना मोह नहीं जकड़े; मोह की रस्सी ढीली पड़ जाय तथा कर्म बन्धन शिथिल पड़ जायें और यह अपने उद्धार में अग्रसर हो जाय। इसे प्रतिक्षण में होनेवाली अपनी क्रमभावी पर्यायें समझ में आजायें और यह अन्य द्रव्यों से अपने ममत्व को दूर कर स्वरूप में लग जावे।

आराररल्लद गर्भदोळबळेयनागरोद् मूत्राध्वदोळ् ।
वारं वंद्रे वंधुग ळिपत्नगळे देन्नं गनानीकर्मे ॥
दारारेंजलनुण्ण नात्म जरे नुत्तारार दुर्गंधं दिं ।
चारित्रंगिडनात्मनें भ्रमितनो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कर्म विशिष्ट जीव ने किन किन नीच गतियों में जन्म नहीं लिया ? किसके किसके मूत्र-मार्ग से नहीं गुजरा ? उस मूत्र-मार्ग से बाहर आकर "मेरा बंधु, मेरा पिता, मेरी स्त्री " इत्यादि झूठा संबंध स्थापित कर किनका किनका जूठा नहीं खाया ? मेरा पुत्र ऐसा कह किन किन की दुर्गन्ध से अपने आचरण को भ्रष्ट नहीं किया ? आत्मा क्यों भ्रम में पड़ गया है ? ॥२९॥

विवेचन--- सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञेय पदार्थ गुण-पर्याय सहित हैं तथा आधार-भूत एक द्रव्य अनन्त गुण सहित है । द्रव्य में गुण सदा रहते हैं, अविनाशी और द्रव्य के सहभावी गुण होते हैं गुण द्रव्य में विस्तार रूप— चौड़ाई रूप में रहते हैं और पर्यायें आयत लम्बाई के रूप में रहती हैं, जिससे भूत, भविष्यत और वर्तमान काल में क्रमवर्ती ही होती हैं । आचार्य कुन्दकुन्दा स्वामी ने पर्याय दो प्रकार की बतायी हैं द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय ।

अनेक द्रव्य मिलकर जो एक पर्याय उत्पन्न होती है उसे द्रव्य पर्याय कहते हैं। सीधा द्रव्य पर्याय का अर्थ द्रव्य प्रदेशों में परिणम—आकार परिवर्तन है। इसके दो भेद हैं। स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और विभाव व्यञ्जन पर्याय अथवा समान जातीय द्रव्य पर्याय और असमान जातीय द्रव्य पर्याय। प्रत्येक द्रव्य का अपने स्वभाव में परिणमन होता है वह स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और दो विजातीय द्रव्यों के संयोग से जो परिणमन होता है वह विभाव व्यञ्जन पर्याय है। जीव के साथ पुद्गल के मिलने से नर, नारकादि जो जीव की पर्यायें होती हैं वे विभाव व्यञ्जन पर्यायें कहलाती हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, सिद्ध-आत्मा, परमाणु का जो आकार है वह स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है।

संसारी जीव नरकादि में नाना प्रकार के शरीर ग्रहण करता है, उसके शरीर के विभिन्न आकार देखे जाते हैं, ये सब विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं। गुण पर्याय के भी दो भेद हैं— स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय। स्वभाव परिणमन में गुणों का सदृशपना रहता है; इस में अगुरु लघु गुण द्वारा कालक्रम से नाना प्रकार का परिणमन होने पर भी हीनाधिकता नहीं आती। जैसे सिद्धों में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, आदि गुण हैं, अगुरु लघु गुण के कारण षड्गुण हानि, वृद्धि होती है

पर उनके गुण ज्यों के त्यों बने रहते हैं किसीभी प्रकार की कमी नहीं आती। विभाव गुण पर्याय में अन्य द्रव्यों के संयोग से गुणों में हीनाधिकता देखी जाती है। संयोग से संसारी जीव के ज्ञानादि गुण हीनाधिक देखे जाते हैं।

गुण और पर्याय के इस सामान्य विवेचन से स्पष्ट है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव द्रव्य और स्वभाव गुण पर्याय का अनुसरण करे। जो जीव शरीर आदि कर्म जनित अवस्थाओं में लवलीन हैं, वे पर समय हैं। जबतक 'मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा शरीर है, इस प्रकार के नाना अहंकार भाव और ममकार भाव से युक्त चेतना बिलास रूप आत्म व्यवहार से च्युत होकर समस्त निन्द्य क्रिया समूह को अंगीकार करने से पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु आदि के व्यवहारों को यह जीव करता रहता है; राग-द्वेष के उत्पन्न होने से यह कर्मों के बन्धन में पड़ता चला जाता है और भ्रमवश— मिथ्यात्व के कारण अपने को भूल रहता है। जो जीव मनुष्यादि गतियों में शरीर सम्बन्धी अहंकार और ममकार भावों से रहित हैं, अपने को अचलित चैतन्य विलास रूप समझते हैं, उन्हें संसार का मोह-क्षोभ नहीं सताता और वे अपने को पहचान लेते हैं।

कुलमं गोत्रमनुर्वियं बिरुदुमं पत्तीकरंगोंडुता-
नोलिवं तन्नवेनुत्ते लोगर वेनुत्तं निंदिपं जीवनं- ॥
डलेदेंवत्तर नाल्कु लक्ष भवदोळ्वंदल्लि लानावुद-
क्कोलिवं निंदिपनावुदं निरविसा रत्नाकराधीश्वरा ॥३०॥

हे रत्नाकरधीश्वर !

जीव अपने वंश, गोत्र, क्षेत्र, ख्याति आदि को ग्रहण करके 'यह मेरा है' ऐसा प्रेम करता है । दूसरे का वंश गोत्र आदि देखकर 'यह दूसरेका है' ऐसा समझते हुए तिरस्कार करता है । चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर दुःख को प्राप्त होते हुए इस योनि में मनुष्य किस से प्रेम करता है ? किसकी निन्दा करता है ? प्रतिपादन करो ॥३०॥

विवेचन— जो जीव अपने आत्म स्वरुप को भूलकर पर में आत्मा बुद्धि ग्रहण कर जिस शरीर में निवास करते हैं, उस शरीर रूप ही अपने को मानते हैं वे उस शरीर के सम्बन्धियों को अपना समझ लेते हैं । इसी कारण उनमें अहंकार और ममकार की प्रबल भावना जाग्रत होती है । शरीर में प्राप्त इन्द्रियों के विषयों के आधीन हो कर उनके पोषण के लिये इष्ट सामग्री के संचय और अनिष्ट सामग्री से बचने का प्रयत्न किया जाता है; जिससे इष्ट संयोग में हर्ष और इष्ट-वियोग में विषाद धारण करना पड़ता है । इन्हें धन, गृह, आदि के प्राप्त करने के लिये अन्याय तथा पर पीड़ाकारी कार्य करने में भी ग्लानि नहीं होती है ।

इस प्रकार के इन्द्रिय विषय लोलुपी जीव पर-समय मिथ्या-दृष्टि कहलाते हैं। ये स्त्री, पुत्र, मित्र, गाय, भैंस, सोना, चाँदी, मकान आदि के लिये अत्यन्त ललायित रहते हैं, इन पदार्थों को अपना मानते हैं। आसक्ति के कारण त्याग से दूर भागते हैं। जिनमें मनुष्य, देव आदि पर्यायों का धारी मैं हूँ तथा ये पञ्चेन्द्रिय सुख मेरे हैं, इस प्रकार का अहंकार और ममकार पूर्ण रूप से वर्त्तमान है वे आत्मसुख से विमुख होकर कुछ भी नहीं कर पाते हैं। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त या मूर्छित हो जाती है तथा वे शरीर को ही अपना मान लेते हैं।

जिसने अहंकार और ममकार जैसे पर पदार्थों को दूर कर दिया है और जो आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्द-मय, अमूर्तिक, अविनाशी, सिद्ध भगवान के समान शुद्ध समझता है, वह सम्यग्दृष्टि है जैसे रत्न दीपक को अनेक घरों में घुमाने परभी, एक रत्नरूप ही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा अनेक पर्यायों को ग्रहण करके भी स्वभाव से एक है। ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म, राग-द्वेष आदि भाव-कर्म और शरीर आदि नोकर्म ये सब आत्म के शुद्ध स्वभाव से भिन्न हैं, तथा यह आत्मा अपने स्वभावों का कर्त्ता और भोक्ता है, जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, वह व्यक्ति इन्द्रिय-भोगों से विरक्त हो जाता है। तथा उसे स्त्री, पुत्र, मित्र आदि का संयोग एक

नौका पर कुछ काल के लिये संयुक्त पथिकों के समान जान पड़ता है। वह अज्ञानी होकर मोह नहीं करता है। वह घर में रहते हुए भी घर के बन्धन में नहीं फंसता है। स्वतंत्रता प्राप्ति को ही अपना सब कुछ मानता है।

मोह जिसके कारण यह जीव अपने तेरे के भेद-भाव को ग्रहण करता है, ज्ञान या विवेक से ही दूर हो सकता है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें संसार के सम्बन्ध, वंश, गोत्र आदि अनित्य विजातीय धर्म दिखलायी पड़ते हैं। मिथ्यारुचि-वालों को ये सांसारिक बन्धन अपने प्रतीत होते हैं, वे शरीर के सुखों में उलझे रहते हैं, इस कारण वे ध्यान करते हुए भी नित्य, शुद्ध, निर्विकल्प आत्मतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उनकी दृष्टि सर्वदा बाह्य वस्तुओं की ओर रहती है, अतः साधक को सचेत होकर बाह्य वस्तुओं की ओर जानेवाली प्रवृत्ति को रोकना चाहिये।

जब जीव को यह प्रतीति हो जाती है कि मेरा स्वभाव कभी भी विभाव रूप नहीं हो सकता है, मेरा अस्तित्व सदा स्वाभाविक रहेगा; इसमें कभी भी विकार नहीं आ सकता है। जैसे सोना एक द्रव्य है, उसके नाना प्रकार के आभूषण बनाने पर भी सभी आभूषणों में सोना रहता है, उसके अस्तित्व का कभी नाश नहीं

होता; केवल पर्यायें ही बदलती हैं; इसी प्रकार मेरा आत्मा नाना स्वभाव और विभाव पर्यायों को धारण करने पर भी शुद्ध है; उसमें कुछ भी विकार नहीं है।

एलेले उळ्ळुदनाडे कोळ्ळिगोळ्ळुवर्नोडॆब नाळ्मातिदें।
सले सत्यं बहुयोनि योळ्पलवु तायुं तंदेयोळ्पुट्टिदा ॥
मलशुक्लं गळोळ्ळाळ्दु बाळ्दुमनमन्यर्नोदु' वैवल्लि तां-।
पलगें पुट्टिदेयेंदोडें कुदिवरो रत्नकराधीश्वरा ! ॥३१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सत्य बात सबको बुरी लगती है। जो जैसा है उसे वैसा ही कहने पर सुननेवाले को दुःख होता है। इस जीव ने नाना योनियों में जन्म लिया; माता-पिता मिले। यदि कोई इससे कह दे कि तुम्हारा दूसरा पिता है तू अन्य से उत्पन्न हुआ है, तो यह जीव इस बात को सुनकर क्रोध से आग बबूला हो जाता है, कहनेवाले को लाखों गालियाँ देता है और उससे कहता है कि मेरे माता-पिता दूसरे नहीं, तूही अन्य पिता से उत्पन्न हुआ है, असल नहीं है। हा हा !! इस जीवमें कितना राग है, जिससे यह इस सत्य बात को सुनकर भी खेद का अनुभव करता है। आश्चर्य है कि जीव राग-वश महान् अनर्थ कर रहा है ॥३१॥

विवेचन—मिथ्यादृष्टि जीव इस शरीर और जन्म को नित्य समझकर अपने रिश्तों को नित्य मानता है। यदि इस जीव से कोई कह दे कि तेरे बापका कोई ठीक नहीं, तो इसे कितना बुरा

लगता है। वास्तव में इस जीव ने अनादिकाल से अबतक अनन्तानन्त बाप बनाये हैं, अतः इसके बाप का वस्तुतः क्या ठीक है। यदि एक बाप हो तो उसका निश्चय किया जाय, जहाँ अनेक नहीं, बल्कि अगणित अनन्तानन्त बाप हैं, उनका क्या निश्चय किया जा सकता है ? इसी प्रकार मूर्ख, शूकर, गधा आदि गालियों को सुनकर यह दुःख करता है। यदि विचार कर देखा जाय तो ये गालियाँ यथार्थ हैं। अब तक यह जीव चौरासी लाख योनियों में अनेक बार जन्म ले चुका है। कभी यह शूकर हुआ है, तो कभी गधा, घोड़ा, बैल, उल्लू, कौआ, कबूतर, चील, सिंह, रीछ आदि नाना प्रकार के पशु-पक्षियों में जन्मा है।

यदि कोई इसे गधा कह देता है, तो उस बेचारे का अपराध क्या है, क्या यह जीव गधा नहीं बना ? जब इसे गधा अनेक बार बनना पड़ा तो फिर गधा शब्द सुनकर बुरा मानने की क्या आवश्यकता ? इसने अनेक भवों में बुरे से बुरे शरीर धारण किये, खराब से खराब भोजन किया। यहाँ तक कि मल-मूत्र जैसे अभक्ष्य पदार्थों को भी इसने अनेक बार ग्रहण किया होगा। अतएव किसीकी गाली सुनकर बुरा मानना, उससे लड़ना, उलट-कर गालियाँ देना, मार-पीट करना बड़ा अपराध है। जो सच कह

रहा है, आत्मज्ञान की बात बतला रहा है, वह उपकारी नहीं तो और क्या है ? उसे अपना सबसे बड़ा उपकारी मान कर आत्म-कल्याण की ओर लगना चाहिये ।

जिस शरीर के ऊपर हमें इतना गर्व है, जिसके अभिमान में आकर हम दूसरों को कुछ भी नहीं समझते हैं, तिरस्कार करते हैं, अपमान करते हैं वह शरीर बालू का भीत हैं; क्षणिक है। किसी भी दिन रोग हो जायगा और यह दो हो दिन में क्षीण हो जायगा अथवा मृत्यु एकही क्षण में आकर गला दबोच देगी। जो कुछ इस जीवने सोचा है, इसने अपने मनसूबे बाँधे हैं वे सब क्षणभर में नष्ट होनेवाले हैं। अतः मृत्यु को जीवन में अटल समझ कर संसार के पदार्थों से राग-बुद्धि को दूर करना चाहिये ।

अज्ञानी मनुष्य के कार्यों पर बड़ा आश्चर्य होता है कि वह इन बाह्य पदार्थों को अपना कैसे समझ गया है ! दिनरात संसार के परिवर्त्तन को देखते हुए भी मृत्यु के मुख में जीवों को जाते हुए देखकर भी वह अपने को अजर-अमर कैसे समझता है ! यह मनुष्य अपनी त्रुटियों तथा अपने यथार्थ स्वरूप को विचारे तो उसमें पर्याप्त सहन-शीलता आ सकती है। संसार के झगड़े समाप्त हो सकते हैं।

बाह्यापेक्षे यिनादोडं कुलबलस्थानादि पक्षं मनः-
सह्यं निश्चयदिदंमात्मनकुलं निर्गोत्रि निर्नामि नि-
र्गुह्योद्भूतननंगनच्युतननाद्यं सिद्धनेंदें बुदे।
ग्राह्यं तत्परिभाव मे भवहरं रत्नाकराधीश्वरा ॥३२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा वंश, बल, स्थान आदि से जो प्रेम करता है वह मन को व्यवहारिक रूप से भले हीं न्याय सम्मत जान पड़े; किन्तु निश्चित रूप से आत्मा कुल रहित, गोत्र रहित, नाम रहित, नाना योनियों में जन्म न लेनेवाला, शरीर रहित, आदि-अन्त रहित सिद्धस्वरूप ऐसा ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार के भाव से भव-सकट का नाश हो सकता है ॥३२॥

विवेचन— जीव और अजीव दोनों ही अनादि काल से एक क्षेत्रावगाह संयोग रूप में मिल रहे हैं और अनादि से ही पुद्गलों के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थाएँ हो रही हैं। यदि निश्चय नय की दृष्टि से देखा जाय तो जीव अपने चैतन्य भाव और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़पने को नहीं छोड़ता। परन्तु जो निश्चय या परमार्थ को नहीं जानते हैं वे संयोग से उत्पन्न भावों को जीव के मानते हैं। अतः असद्व्यवहार नय की दृष्टि से वंश, बल, शरीर आदि आत्मा के हैं परन्तु, निश्चय दृष्टि से इनका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

यह आत्मा न कभी घटती-बढ़ती है, न इसमें किसी भी प्रकार की विकृति आती है, इसका कर्मों के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सदा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। शुद्ध निश्चय नय से इसमें ज्ञानावरणादि आठ कर्म भी नहीं हैं; क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि अठारह दोषों के कारणों के नष्ट हो जाने से ये कार्यरूप दोष भी इसमें नहीं है। सत्ता, चैतन्य आदि शुद्ध प्राणों के होने से इन्द्रियादि दस प्राण भी नहीं हैं। इसमें रागादि विभाव-भाव भी नहीं हैं। मनुष्य इस प्रकार की निश्चय दृष्टि द्वारा अपनी आत्मरुचि को बढ़ा सकता है तथा जो विषयों की प्रतीति हो रही है उसे कम कर सकता है।

यद्यपि यह संसारी जीव व्यवहार नय की दृष्टि द्वारा ज्ञान के अभाव से उपार्जन किये ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों के निमित्त से नाना प्रकार की नर-नारकादि पर्यायों में उत्पन्न होता है, विनशता है और आप भी शुद्धज्ञान से रहित हुआ कर्मों को बान्धता है। इतना सब कुछ होने परभी शुद्ध निश्चय नय द्वारा यह जीव शक्ति की अपेक्षा से शुद्ध ही है। कर्मों से उत्पन्न नर-नारकादि पर्याय रूप यह नहीं है। केवल यह व्यवहार का खेल है, उसकी अपेक्षा कार्य-कारण भाव है। व्यवहार के निकलते ही इस जीव को अपनी प्रतीति हो जाती है तथा यह अपने को

प्राप्त कर लेता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव नित्य है, शुद्ध है, शाश्वत चैतन्य रूप है, ज्ञानादि गुण इसमें वर्त्तमान हैं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव उत्पन्न होता है, नाश होता है, कुटुम्ब, वंश, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि की कल्पना करता है। अध्यवसान विपरीत श्रद्धान द्वारा इस जीव ने पुद्गल द्रव्य के संयोग से हुए परिणमन को अपना समझ लिया है तथा उसके विकृत परिणामों को अपना मानने लगा है। जैसे समुद्र की आड़ में कोई चीज आजाने पर जल नहीं दिखलायी पड़ता है और जब आड़ दूर हो जाती है तो जल दिखलायी पड़ने लगता है; इसी प्रकार आत्मा के ऊपर जबतक भ्रम का आच्छादन रहता है, उसका वीतराग, शान्त स्वरूप दिखलायी नहीं पड़ता और आच्छादन के दूर होने पर आत्मा दिखलायी पड़ने लगता है अतः साधक अपनी आत्मा का कल्याण इस निश्चय और व्यवहार दृष्टि को समझ कर ही कर सकता है। जबतक उसकी दोनो दृष्टियाँ परिष्कृत नहीं होतीं, वास्तविकता उसकी समझ में ही नहीं आती है।

पत्तंगोडडे कोळगे जीव हित मुळ्ळाचार मुळ्ळमदोळ्- ।
मोक्षक्कैदिसलार्प सत्कुलसुधर्मश्रीयनंतल्लदु- ॥
दभद्वेषदे कोल्व कुत्सितद शीलं तळतु सार्दात्मरं ।
भित्तंगे-य्व बनात्मने के पिडिवं रत्नाकराधीश्वरा ॥३३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

आत्म हित की कामना से उत्तम आचरण, मोक्ष की साधना के लिये समर्थ कुल, श्रेष्ठ धर्म और सम्पत्ति को ग्रहण करना चाहे तो करे। परन्तु ऐसा होता कहाँ है? अच्छे अच्छे भोजन की इच्छा रखनेवाला, द्वेष और हिंसा से युक्त निकृष्ट आचरण को प्राप्त होकर याचना करनेवाला यह जीव हित का उपदेश कब ग्रहण करेगा? ॥३३॥

विवेचन— प्रत्येक जीव सुख चाहता है, इसकी प्राप्ति के लिये वह नाना प्रकार के यत्न करता है। संसार के जितने भी कार्य हैं वे सब सुख प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं; सभी कार्यों के मूल में सुख प्राप्ति की भावना अन्तर्निहित रहती है। जब साधक में संसार के मोहक विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाती है तो वह वास्तविक सुख प्राप्ति के लिये यत्न करता है। वह विषय भोग को निस्सार समझ कर अतीन्द्रिय सुख प्राप्ति की चेष्टा करता है तथा संसार में भ्रमण करानेवाले मिथ्या-चारित्र को छोड़ सम्यक् चारित्र को प्राप्त करने के लिये अग्रसर होता है।

सम्यक् चारित्र के दो भेद हैं—वीतराग चारित्र और सराग चारित्र। जिस चारित्र में कषाय का लवलेश भी नहीं रहता है तथा जो आत्म-परिणाम स्वरूप है, उसे वीतराग चारित्र कहते हैं। इस चारित्र के पालने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो चारित्र

कषायों के अंशों के मेल से आत्मा के गुणों का घात करनेवाला है, वह सराग चारित्र होता है। सराग चारित्र से पुण्य बन्ध होता है, जिससे इन्द्र, अहमिन्द्र आदि की प्राप्ति होती है। सराग चारित्र बन्ध का कारण है, यह सुख स्वरूप नहीं, इसके पालन करने से परम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः आत्मविकास की अवस्था में पूजन-पाठ, भक्ति आदि सराग चारित्र त्यागने योग्य है।

वीतराग चारित्र वस्तु का स्वभाव है। वीतराग चारित्र, निश्चय चारित्र, धर्म, समपरिणाम ये सब एकार्थवाचक हैं और मोहनीय से भिन्न विकार रहित सुखमय जो आत्मा का स्थिर परिणाम है वही इसका सर्वमान्य स्वरूप है। इसी कारण वीतराग चारित्र ही आत्म स्वरूप कहा जाता है; क्योंकि जब जिस प्रकार के भावों से युक्त यह आत्मा परिणमन करता है, उस समय वीतराग चारित्ररूप धर्म सहित परिणमन करने के कारण यह चारित्र आत्मस्वरूप में ही व्यक्त होता है। अतः आत्मा और चारित्र इन दोनों में ऐक्य है। कुन्दकुन्द स्वामीने वीतराग चारित्र को ही सबसे बड़ा धर्म माना है और इसको परम सुख का कारण बताया है। जीव के लिये आराध्य यही चारित्र है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥
परिणमदी जेण दव्वं तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥
जीवो परिणमदि जदासुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धण तदा सुद्धो हवादे ाह परिणामसब्भावो ॥
धम्मेण पारणदप्पाअप्पा जादि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥

भावार्थ---निश्चय से दर्शन मोह और चारित्र मोह रहित तथा सम्यग्दर्शन और वीतरागता सहित जो आत्मा का निज भाव है वही साम्य भाव है— आत्मा जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमन करता है, तब जो भाव स्वात्मा सम्बन्धी होता है, उसे ही समता-भाव या शान्त-भाव कहते हैं। यही संसार से उद्धार करनेवाला धर्म है। आत्मा जब परभाव में न परिणमन करके अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तब आत्मा ही धर्म बन जाता है। राग-द्वेष और मोह संसार है, इसे दूर करने के लिये वीतराग चारित्र की परम आवश्यकता है। आत्मा में ज्ञानोपयोग मुख्य है, इसी के द्वारा आत्मा में प्रकाश आता है

तथा इसीके द्वारा जीव आप और पर को जानता है। जिस समय आत्मा उदासीन होकर पर पदार्थों को जानना छोड़ देता है; आप ही ज्ञाता और आप ही ज्ञेय बन जाता है। यही सच्चा सुख है। इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

ओंदोदात्मने शुद्धदि त्रिजगदापूर्णाकृतंगळ् जग-
द्दंदोत्कंपित शक्तिगळ्परर्गं शक्यंगळ्जगत्कर्तृगळ् ॥
तंदितेल्लवनार्द्रचर्म दोड लोळ्तळ्ताने पेण्णश्ववा-
ळिर्दें मागुत्तिणो पाप पुण्य युगळ रत्नाकराधीश्वरा ॥३४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शुद्ध निश्चय-दृष्टि से एक आत्मा ही तीनों लोकों को व्याप्त करके रहनेवाला आकार स्वरूप है। तीनों लोकों को हिला देने की शक्ति आत्मा में है। आत्मा दूसरों से जीता नहीं जा सकता। कार्माण शरीर आत्मा को गीले चमड़े में घुसा कर अर्थात् स्थूल शरीर धारण कराकर 'हाथी, घोड़ा, नौकर आदि ऐसा अनेक नाम देता रहता है, कितना आश्चर्य है !! ॥३४॥

विवेचन— जीव असंख्यात प्रदेशमय है और समस्त लोक को व्याप्त करके भी रह सकता है। इस जीव में अपार शक्ति है, यह अपनी शक्ति के द्वारा तीनों लोकों को कम्पित कर सकता है। इसके गुण अनन्त और अमूर्त हैं, यह इन्हीं गुणों के कारण विविध प्रकार के परिणामों का अनुभव करता है।

यह चेतना युक्त, बोध व्यापार से सम्पन्न है। इसकी शक्ति सर्वथा अजेय है, कभी भी यह परतन्त्र नहीं हो सकता है।

संसारी जीव की पर्यायें बदलती रहती हैं; अज्ञान या मिथ्यात्व के कारण विविध प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं के कारण ही इसे देव, मनुष्य आदि अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। जब यह शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है तो इसे देव, असुर आदि पर्यायों से छुटकारा मिल जाता है। जीव को शरीर आदि का देनेवाला नाम कर्म है। यह आत्मा के शुद्ध भाव अच्छादित कर नर, तिर्यञ्च नरक और देव गति में ले जाता है। जीवका विनाश कभी नहीं होता है, किन्तु एक पर्याय नष्ट होकर दूसरी पर्यायों में उत्पन्न होता है।

समस्त लोक में सर्वत्र कार्माण वर्गाणाएँ --- पुद्गल द्रव्य के छोटे २ परमाणु तथा उनके संयोग से उत्पन्न सूक्ष्म स्कन्ध व्याप्त हैं। आत्मा इनमें से कई एक परिमाणु या स्कन्धों को कर्मरूप से ग्रहण करता है। इन नाना स्कन्धों में से, जो कर्मरूप में परिणत होने की योग्यता रखते हैं, वे जीव के राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं और जीव के साथ उनका बन्ध हो जाता है। कर्मबन्ध के कारण जीव नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में भ्रमण करता है। गतियों के कारण

इसे शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर में इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषय ग्रहण और विषय ग्रहण से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध जीव इस प्रकार सांसारिक भूलभुलैया में पड़कर अशुद्ध भावों की परम्परा अर्जित करता है।

जीव को औदारिक, वैक्रियक, तैजस, आहारक और कार्माण ये पाँच प्रकार के शरीर मिलते हैं। जो स्थूल शरीर बाहर से दिखलायी पड़ता है, सप्त धातुमय है, तथा रोग, बीमारी आदि के कारण जिस शरीर में वृद्धि-ह्रास होता है, औदारिक है। छोटा, बड़ा, एक, अनेक आदि विविध रूप धारण करनेवाला शरीर वैक्रियिक शरीर कहलाता है। यह शरीर देव और नारकियों को जन्म से अपने आप मिल जाता है तथा अन्य जीवों को तपस्या आदि की साधना द्वारा प्राप्त होता है। भोजन किये गये आहार को पचानेवाला और शरीर की दीप्ति का कारणभूत तैजस शरीर कहलाता है। शास्त्रों के ज्ञाता मुनि द्वारा शंका समाधान के निमित्त सर्वत्र गमन करनेवाला तीर्थंकर के पास भेजने के अभिप्राय से रचा गया शरीर आहारक कहलाता है। जीव के द्वारा बन्धे हुए कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं। प्रत्येक जीव में इस स्थूल शरीर के साथ कार्माण और तैजस ये दो सूक्ष्म शरीर अवश्य रहते हैं। मनुष्यों को नाम कर्म के कारण

यह शरीर ग्रहण करना पड़ता है।

जीव जिस भाव से इन्द्रिय गोचर पदार्थों को देखता है और जानता है, इससे वह प्रभावित होता है, अनुराग करता है, वैसे ही कर्मों के साथ सम्बन्ध कर लेता है। जीव की यह प्रक्रिया अनादि-काल से चली आरही है। अतः अब भेदविज्ञान द्वारा इस बन्धन को तोड़ना चाहिये।

पापं नारक भूमिगोय्वुदसुवं पुण्यं दिवक्कोय्वुदा।
पापं पुण्यमिवोंदु गूडिदोडे तिर्यङ्मर्त्य जन्मंगलोळ्॥
रूपं माळ्कुमिवेल्ल मध्रुममिवे जन्मक्के स्नार्वि गोडल्।
पापं पुण्यमिवात्म बाह्यकवला रत्नाकराधीश्वरा!॥३५॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

पाप जीव को नरक की ओर और पुण्य स्वर्ग की ओर ले जाता है। पाप और पुण्य दोनों मिलकर तिर्यञ्च गति और मनुष्य गति में उत्पन्न करते हैं, पर यह सभी अनित्य है। पाप और पुण्य ही जन्म-मरण के कारण हैं। क्या यह सब आत्मा के बाहर की चीज नहीं है? ॥३५॥

विवेचन--- अज्ञान तथा तीव्र राग-द्वेष के आधीन होकर अपने धर्म की रक्षा न करना कर्त्तव्य च्युत होना है। जीव अपनी सत् प्रवृत्ति के कारण पुण्य का अर्जन करता है तथा असत् प्रवृत्ति के कारण पाप का। दान देना, पूजा करना,

स्वाध्याय करना, गुरु भक्ति करना, व्रत पालन करना, उपवास करना आदि कार्य पुण्योत्पादक माने जाते हैं तथा हिंसा करना, जुआ खेलना, मान्स खाना, चोरी करना, झूठ बोलना, मद्यपान करना, शिकार खेलना, वेश्या गमन करना इत्यादि कार्य पापोत्पादक माने जाते हैं। पुण्योत्पादक कर्मों के उदय आने पर इस जीव को इन्द्रिय सुख और पापोत्पादक कर्मों के उदय आने पर इस जीव को दुःख होता है।

व्यवहार नय की दृष्टि से पुण्योत्पादक कार्य प्रशस्त हैं, इनके द्वारा सम्यग्दर्शन को दृढ़ किया जा सकता है तथा जीव सराग चारित्र के द्वारा अपनी इतनी तैयारी कर लेता है जिससे आगे बढ़ने पर आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाती। मानव समाज के सामूहिक विकाश के लिये भी पुण्योत्पादक कार्य प्रशस्त हैं; क्यों कि इनके द्वारा मानव समाज में शान्ति, प्रेम और एकता की स्थापना होती है। समाज के विकाश के लिये ये नियम माननीय हैं। इसके अलावा इन धार्मिक नियम का महत्व आत्मोत्थान में भी है। इनके द्वारा परम्परा से आत्मशुद्धि की प्राप्ति होती है, कषायें मन्द होती हैं। पाप कर्म इसके विपरीत व्यक्ति तथा समाज दोनों को कष्ट देनेवाले हैं। पाप कर्मों के द्वारा आत्मा बोझिल होती जाती है और जीव कषायों को पुष्ट करता रहता

है। जहाँ पुण्य कर्म स्वर्ग-सुख देता है, वहाँ पाप कर्म नरक को। ये दोनों ही बन्ध के कारण है, दोनों ही आत्मा क लिये जेल हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि एक सुख विलास की जेल है तो दूसरा कष्ट की। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में पुण्य-पाप को आत्मधर्म से पृथक् बताया है, अतः ये जीव के लिये त्याज्य हैं।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥

अर्थ—अशुभ कर्म पाप स्वभाव होनेसे बुरा है और शुभ कर्म पुण्य स्वभाव होने से अच्छा है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि जो कर्म प्राणी को संसार में प्रवेश कराता है, वह कर्म शुभ कैसे हो सकता है? अर्थात् पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार के कर्म संसार के कारण हैं।

एक ही कर्म शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के कारण दो रूप में परिणमन कर लेता है—शुभ और अशुभ। ये दोनों ही परिणाम अज्ञानमय होने के कारण एक ही से हैं तथा दोनों ही पुद्गल रूप हैं, दोनों में कोई भेद नहीं। जीव के शुभ परिणामों में कषायों को मन्द करनेवाले अरिहन्त में अनुराग, जीवों में अनुकम्पा, चित्त की उज्वलता आदि परिणाम प्रधान हैं। अशुभ का

हेतु जीव के अशुभ परिणाम--तीव्र क्रोधादि, अशुभ लेश्या, निर्दय-पना, विषयासक्ति, देव-गुरु आदि पुज्य पूरुषों की विनय नहीं करना आदि हैं। शुभ और अशुभ ये एकही पुद्‌गल द्रव्य के स्वभाव भेद हैं अतः शुभ द्रव्य-कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र एवं अशुभ चार घातिया कर्म, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र हैं। इनके उदय से प्राणी को इष्ट, अनिष्ट सामग्री मिलती है; अतः ये पुद्‌गल के स्वभाव है। आत्मा का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि आत्मा ज्ञान, दर्शनमय चैतन्य द्रव्य है, ये पुद्‌गल के विकार हैं, अतः आत्मा से बाहिर हैं।

सुकृतं दुष्कृतमुं समानमदनन्यर्मेच्चरेकेंदोडा।
सुकृतं स्वर्गसुखक्के कारण मेनल्लत्सौख्यमे नित्यमो॥
विकृतं गोंडळिवंदळल्जनिसदो स्वप्नंवोलें मांजदो।
प्रकृति प्राप्तिगे नूंकदो पिरिदर्दें रत्नकराधीश्वरा ॥३६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

'पाप और पुण्य दोनों समान हैं' इस बात को लोग नहीं मानते क्योंकि पुण्य स्वर्ग-सुख का कारण बनता है। पर क्या वह सुख नित्य है? क्या स्वप्न की तरह वह स्वर्ग-सुख नष्ट नहीं हो जाता? कर्म प्रकृति की ओर नहीं लेजाता? कर्म इस प्रकार का होने से क्या बड़ा है? ॥३६॥

विवेचन— अज्ञान रूप होने से पुण्य-पाप, दोनों समान हैं। एकही पुद्गल वृक्ष के फल हैं; अन्तर इतना ही है कि एक का फल मीठा है तो दूसरे का खट्टा। फल रूप से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पुण्य के उदय से स्वर्गिक सुखों के प्राप्त हो जाने पर भी वे सुख शाश्वत नहीं होते। इन सुखों में नाना प्रकार की बाधाएँ आती रहती हैं, अतः अनित्य पुण्य जनित सुख भी आत्मा से बाहर होने के कारण त्याज्य है। परमात्म-प्रकाश के टीकाकार ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैक स्वभावोऽपि पश्चात्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति। अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति, तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रबहिर्द्रव्येच्छानिरोध-लक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षसुखा-भिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति।

अर्थ—यह जीव शुद्ध निश्चय नय से वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, तो भी व्यवहार नय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन

ज्ञान के अभाव से रागादि रूप परिणमन करता हुआ शुभ, अशुभ कर्मों के कारण पुण्यात्मा तथा पापी बनता है। यद्यपि यह व्यवहार नय से पुण्य-पाप रूप है, तो भी परमात्मा की अनुभूति से तन्मयी जो वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और बाह्य पदार्थों में इच्छा को रोकने रूप तप ये चार निश्चय आराधना हैं। इनकी भावना के समय साक्षात् उपादेय रूप वीतराग, परमानन्द जो मोक्ष का सुख उससे अभिन्न आनन्दमयी निज शुद्धात्मा ही उपादेय है।

अभिप्राय यह है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के साथ राग और संगति करना सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि ये दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता के कारण हैं। जिस प्रकार कोई पक्षी किसी हरे-भरे वृक्ष को विषफल वाला जानकर उसके साथ राग और संसर्ग नहीं करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी राग रहित ज्ञानी हो अपने बन्ध के कारण शुभ और अशुभ सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थ से बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्ग नहीं करता है।

सभी कर्म, चाहे पुण्य रूप हों या पाप रूप पौद्गलिक हैं, उनका स्वभाव और परिणाम दोनों ही पुद्गलमय हैं। आत्मा के स्वभाव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा जब

इस पुण्य-पाप क्रिया से पृथक् हो जाता है, इसे पराधीनता का कारण समझ लेता है तो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की विनयों को धारण करता है। तथा अपनी आत्मा को भी सर्वदा निष्कलंक, निर्मल और अखण्ड समझता है।

अज्ञानी जीव राग के कारण कर्मों का बन्ध करता ही है; क्योंकि राग बन्धक और वैराग्य मुक्तक होता है। शुभ, अशुभ सभी प्रकार के कर्म राग प्रवृत्ति से बन्धते हैं अतः कम परम्परा दृढ़तर होती चली जाती है। क्योंकि कर्मका त्याग किये बिना ज्ञानका आश्रय नहीं मिलता है। कर्मासक्त जीव ज्ञान—सच्चे विवेक से कोसों दूर रहता है और समस्त आकुलताओं से रहित परमानन्द की प्राप्ति उसे नहीं हो पाती है। अज्ञानी, कषायी जीव ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानता है।

दुरितं तीर्दोडे पुण्य दोळिनलुवना पुण्यं करं तीर्दोडा।
दुरितंबोदु वनित्तलत्त लेडेयाटं कुंददात्मं गिवं॥
सरिगंडात्म विचार वोंद रीळे निंदानंदिसुत्तिर्पने।
स्थिर नक्कुं सुखीयक्कु मत्तयनला रत्नाकराधीश्वरा॥३७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

पाप का नाश होने पर आत्मा अपने पुण्य में अवस्थित रहता है। जब पुण्य सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है तब आत्मा पुनः पाप को प्राप्त हो

जाता है! आत्मा का इधर-उधर का भ्रमण पूर्ण नहीं होता। पाप और पुण्य को सम दृष्टि से देखकर आत्म-चिन्तन में स्थिर रहकर आनन्द मनानेवाला व्यक्ति स्थिर और नाश रहित सुख को प्राप्त होता है ॥२०॥

विवेचन--- आत्मा के संक्लेश परिणामों से पाप का बन्ध होता है तथा जब यह संक्लेश प्रवृत्ति रुक जाती है और आत्मा में विशुद्ध प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है तो पुण्य का बन्ध होने लगता है। पापास्रव के रुक जाने पर आत्मा में पुण्यास्रव होता है। यह भी विजातीय है, पर इसके उदय काल में जीव को सभी प्रकार के ऐन्द्रियक विषय-भोग प्राप्त होते हैं, जीव इस क्षणिक आनन्द में अपने को भूल जाता है तथा पुण्य का फल भोगता हुआ कषाय, राग-द्वेष आदि विकारों के आधीन होकर पुनः पाप पंक में धस जाता है। इस प्रकार यह पुण्य-पाप का चक्र निरन्तर चलता रहता है, इससे जीव को निराकुलता नहीं होती है।

पुण्य पाप इस प्रकार हैं जैसे कोई स्त्री एक साथ दो उत्पन्न हुए अपने पुत्रों में से एक को शूद्र के घर दे दे तथा दूसरे को ब्राह्मण के घर। शूद्र के घर दिया गया पुत्र शूद्र कहलायेगा तथा वह मान्स, मदिरा का भी सेवन करेगा, क्योंकि उसकी वह कुल परम्परा है। ब्राह्मण के यहाँ दिया गया पुत्र ब्राह्मण कहलायेगा तथा वह ब्राह्मण कुल परम्परा के अनुसार मद्य, मान्स

आदि से परहेज करेगा। इसी प्रकार एक ही वेदनीय कर्म के साता और असाता ये दो पुत्र हैं। साता के उदय से जीव को भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है तथा क्षणिक इन्द्रि-जन्य आनन्द को प्राप्त कर निराकुल होनेका प्रयत्न करता है; फिर भी आकुलता से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता है। असाता का उदय आनेपर जीव को दु:ख प्राप्त होता है। इष्ट पदार्थों से वियोग होता है, अनिष्ट पदार्थों से संयोग होता है जिससे इसे शारीरिक और मानसिक बैचेनी होती है।

सुबुद्ध जीव असाता के उदय में सचेत होकर आत्म चिन्तन की ओर लग भी जाते हैं, परन्तु अधिकतर जीव इस पुण्य पाप की तराजू के पलड़ों में बैठकर झूलते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इस पुण्य-पाप में आसक्त और विरक्त नहीं होता है, वह आसक्ति और विरक्ति के बीच संतुलन रखकर अपना कल्याण करता है। कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में शुभ-अशुभ कर्मों के त्यागने के उपर बड़ा भारी जोर दिया है। उन्होंने इन दोनों को आत्मा का धर्म नहीं माना है। कवि ने आत्मानुभूति में डुबकियाँ लगाते हुए लिखा है---

पाप बन्ध पुन्य बन्ध दुहू में मुगति नाहिं,
कटुक मधुर स्वाद पुद्गल को देखिये।

संक्लेस विसुद्धि सहज दोउ कर्म चालि,
कुगति सुगति जग जाल में विसेषिये ॥
नारकादि भेद तोहि सूझत मिथ्यातमांहि,
ऐसे द्वैतभाव ज्ञानदृष्टि में न लेखिये ।
दोउ महा अन्धकूप दोउ कर्म बन्ध रूप,
दुहू को विनास मोष मारग में देखिये ॥

अर्थ—— पाप और पुण्य बन्ध इन दोनों से मोक्ष नहीं मिल सकती है। इन दोनों के मधुर और कटुक स्वाद पौद्गलिक ही आते हैं। संक्लेश और विशुद्ध परिणाम पाप और पुण्यमय होते हैं, ये दोनों कुगति और सुगति को देनेवाले हैं। इन दोनों के कारणों का भेद मिथ्यात्व ही है, ज्ञान में दोनों भेद डालने वाले हैं। दोनों ही अन्धकार रूप कर्म बन्ध करानेवाले है अतः दोनों के नाश से ही निर्वाण मार्ग की प्राप्ति होती है।

वगेयल्दुष्कृतमोर्मे तां शुभदमात्मंगे केनल्पुण्यवू-।
द्धिगेतां मुंदनुवंध मादकतद्विं पुण्यं सुपुण्यानु वं- ॥
धिगे वंदंददुवुं शुभं सुकृतमुं पापानुवंधक्के मुं-।
पुगे पापक्कनुवंधि पापमशुभं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

विचार पूर्वक देखा जाय तो एक दृष्टि से पाप आगामी पुण्य-वृद्धि

के लिए कारण स्वरूप होता है, इस अर्थ में वह आत्मा को शुभ देनेवाला होता। पुण्य पुण्य-बंध का कारण होने से मंगल कारक होता है। तथा यही पुण्य पाप बंध का कारण होने से अमंगल कारक होता है। पाप पाप बंध का कारण होने से महान् अमंगल कारक होता है ॥३८॥

विवेचन—आत्मा की परिणति तीन प्रकार की होती है—शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप। चैतन्य, आनन्द रूप आत्मा का अनुभव करना, इसे स्वतन्त्र अखण्ड द्रव्य समझना और पर पदार्थों से इसे सर्वथा पृथक् अनुभव करना शुद्धोपयोग है। कषायों को मन्द करके अर्हत् भक्ति, दान, पूजा, वैयावृत्य, परोपकार आदि कार्य करना शुभोपयोग है। यहाँ उपयोग— जीव को प्रवृत्ति विशेष शुद्ध नहीं होती है, शुभ रूप हो जाती है। तीव्र कषायोदय रूप परिणाम विषयों में प्रवृत्ति, तीव्र, विषयानुराग, आर्त्त परिणाम, असत्य भाषण, हिंसा, उपकार प्रभृति कार्य अशुभोपयोग हैं। शुभोपयोग का नाम पुण्य और अशुभोपयोग का नाम पाप है। आत्मा का निज आनन्द जो निराकुल तथा स्वाधीन है शुद्धोपयोग के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसी शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मा अर्हन्त बन जाता है केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, तथा आत्मा परमात्मा बन जाता है; क्षुधा, तृषा आदि का अभाव हो जाता है। आत्मा समस्त पदार्थों का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है।

परिणमन-शील आत्मा जब शुद्ध भाव में परिणमन कर राग-द्वेष, मोहरूप परिणमन करती है, तब इससे कर्मों का बन्ध होता है; जिससे यह आत्मा चारों गतियों में भ्रमण करता है। राग, द्वेष, मोह, क्षोभ आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं। जो व्यक्ति आगम द्वारा तत्त्वों का अभ्यास कर द्रव्यों के सामान्य और विशेष स्वभाव को पहचानता है तथा परपदार्थों से आत्मा को पृथक समझता है, वह विकारों को यथाशीघ्र दूर करने में समर्थ होता है। इन्द्रियों से सुख भोगने केलिये जो पुण्य या पाप रूप प्रवृत्ति की जाती है, उससे जो आनन्द मिलता है वह भी राग के कारण ही उत्पन्न होता है। यदि राग या आसक्ति विषयों की ओर न हो तो जीव को आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है। शरीर एवं विषयों के पोषण करने वालों को आनन्द के स्थान में विषय तृष्णा जन्य दाह प्राप्त होता है, जिससे सुख नहीं मिलता और न पुण्य ही होता है। विषय-तृष्णा के दाह को शान्ति के लिये यह जीव चक्रवर्ती, इन्द्र आदि के सुखों को भोगता है। पर उससे भी शान्ति नहीं होती, विषय लालसा अहर्निश बढ़ती ही चली जाती है।

जबतक जीव को पुण्य का उदय रहता है, सुख मिलता है; पर पाप का उदय आते ही इस जीव को नाना प्रकार के कष्ट

सहन करने पड़ते हैं। जो जीव पुण्य के उदय से प्राप्त आनन्द की अवस्था में कषायों को मन्द रखता है; अपनी मोह वृत्ति को दूर करता है वह पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन कर सुख भोगता हुआ आनन्द प्राप्त करता है। सुख के आने पर मनुष्य को अपने रूप को कभी नहीं भूलना चाहिये। सुख वही स्थिर रहता है, जो आत्मा से उत्पन्न हुआ हो। क्षणिक इन्द्रियों के उपयोग से उत्पन्न सुख कभी भी स्थिर नहीं हो सकते हैं तथा निश्चय से ये आत्मा के लिये अहित कारक हैं, इनसे और शुद्धात्मानुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं है जो अरिहन्त परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को पहचानता है, वह पुण्य का भागी बन जाता है तथा उसका पुण्य आत्मानुभूति को उत्पन्न करने में सहायक होता है। जो व्यक्ति विषय-भोग और कषायों की पुष्टि में आसक्त रहता है, वह पापानुबन्धी पाप का बन्ध करता है, जिससे आत्मा का अहित होता है।

अदुतानेंतेने सुम्न गेय्द दुरितं दारिद्र दोळ्तळ्तोडं।
दयामूल मतक्के सदु नडेवं मुंदेय्दुवं पुण्य सं–॥
पदमं तां सुकृतानुवंधि दुरितं तन्निर्धनं मिथ्ययो–
ळ्पुदियल्तां दुरितानुवंधि दुरितं रत्नाकराधीश्वरा ॥२९॥

है रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म में किए हुए पाप से दरिद्रता में प्रवेश करने पर भी दया में प्रवृत्त होकर आगामी पुण्य सम्पत्ति को प्राप्त होता है; यह सुकृतानुबंधी दुरित है। यदि दरिद्रता को मिथ्यात्व में बिताया जाय तो वह पापानुबंधी पाप है ॥३९॥

विवेचन—प्रत्येक मनुष्य के सामने दो मार्ग खुले रहते हैं—भला और बुरा। जिस मार्ग का वह अनुसरण करता है उसीके अनुसार उसके जीवन का निर्माण होता है। पूर्व जन्म में किये पापों के कारण इस जन्म में यदि दरिद्रता, रोग, शोक आदि के द्वारा कष्ट भी उठाना पड़े तथा इन कष्टों में वह दयामयी अहिंसा धर्म का पालन करता चला जाय तो उसका आगे उद्धार हो जाता है। इस प्रकार के पाप का नाम सुकृतानुबन्धी पाप होता है; क्योंकि ऐसे पाप के द्वारा आगामी के लिये पुण्य की उपलब्धि होती है। यह भविष्य के लिये अत्यन्त सुखदायक हो जाता है।

मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, अपने जीवन का कर्त्ता-धर्त्ता खुद है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को जैसा चाहे, बना सकता। इसका भाग्य किसी ईश्वर विशेष के आधीन नहीं। जो यह समझता है कि मेरी परिस्थिति सदाचरण पालने की नहीं है, मैं अत्यन्त निर्धन हूँ, मेरे पास दान-पुण्य करने के लिये

पैसा नहीं। शरीर मेरा रोगी है, जिससे व्रत, उपवास आदि नहीं किये जा सकते हैं, अतः मुझसे इस अवस्था में कुछ नहीं किया जा सकता है; ऐसी बातें अनर्गल हैं। प्रत्येक व्यक्ति में सब कुछ करने की शक्ति है, आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है तथा दृढ़ संकल्प और सद् विचार द्वारा मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। धन कोई पदार्थ नहीं है इससे न धर्म-कर्म होता है और न आत्मोद्धार। जिन महापुरुषों ने आत्मकल्याण किया है, अपने को शुद्ध बनाया है, उनके पास धन था या नहीं ? पर इतना सुनिश्चित है कि दृढ़ संकल्प और सद्विचार उनके पास अवश्य थे। अपने स्वरूप को पहचानने की क्षमता उनमें थी, अतः अपने को समझ कर ही वे बड़े हुए थे। उनका अपना निजी -विवेक जाग्रत हो गया था।

जो पापोदय से कष्ट उठा रहे हैं, यदि वे दिनभर पैसा पैदा करने के फेर को छोड़ दें तो दयामयी धर्म का प्रतिभास उन्हें हुए बिना नहीं रह सकता है। मनुष्य का स्वभाव है कि (जैसे बनता है वैसे)जबतक दम रहता है, काम करने की शक्ति रहती है, थक कर नहीं बैठ जाता, धन कमाने की धुन में मस्त रहता है। वह न्याय अन्याय कुछ नहीं समझता। आज भौतिकता इतनी अधिक बढ़ गयी है कि सबेरे से लेकर शाम तक श्रम करने के उपरान्त

व्यक्ति अपने सुधार की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता उसका लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही रहता है। अतः पापोदय के रहने पर भी जीव पाप का ही बन्ध करता रहे और मिथ्यात्व में पड़ा जीवन से बाहर इधर-उधर भटकता रहे तो इस पापानुबन्धी पाप से उसका उद्धार नहीं हो सकता है। "अजागलस्तनस्येव जन्म तस्य निरर्थकम्" अर्थात् बकरी के गले में लगे स्तन के समान ऐसे व्यक्ति का जन्म व्यर्थ ही होता है।

अज्ञान तथा तीव्र राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो व्यक्ति दयामयी धर्म की विराधना करता है, वह महान् अज्ञानी है। उसका यह कार्य इस प्रकार निन्द्य है जैसे एक व्यक्ति एक बार ही फल प्राप्ति के उद्देश्य से फले वृक्ष को जड़ से काट लेता है जिससे सदा मिलनेवाले फलों से वञ्चित हो जाता है। अतः वर्त्तमान में किसी भी अवस्था में रहते हुए मनुष्य को अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास करने के लिये सर्वदा दृढ़ संकल्पी बनना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे नियम हैं जिनके पालने से इस जीव को सब प्रकार सुख ही मिलता है।

पडेवं पूर्वद पुण्यदिं सिरियनातं श्रीदयामूलदो-
ळनडेवं तां सुकृतानुबंधिसुकृतं मत्ताधनाढयं गुणं- ॥
गिडे मिथ्यामतदल्लि वर्तिपनवं मुंदेय्दुवं दुःख मं ।
नुडियल्तां दुरितानुबंधिसुकृतं रत्नाकराधीश्वरा ॥४०॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

पूर्व पुण्य से प्राप्त की हुई सम्पत्ति दयामूलक उत्तम धर्म में परिवर्तित हो जाती है। इस सम्पत्ति वाला व्यक्ति पुनः गुणहीन होकर मिथ्यात्व में परिवर्तित हो जाता है। आगे चलकर वह दुःख को प्राप्त होता है। यह दुरितानुबंधी सुकृत है ॥४०॥

विवेचन— पुण्य और पाप दो पदार्थ हैं; इनके संयोगी भंग आगामी बन्ध की अपेक्षा से चार बनते हैं— पुण्यानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पाप, पापानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पाप। किसी जीव ने पहले पुण्य का बन्ध किया हो, उसके उदय आनेपर वह पुण्य-फल को भोगता हुआ अपने कृत्यों द्वारा पुण्य का आस्रव करे। वह इस प्रकार के कृत्यों को करे, जिनसे आगे के लिये भी पुण्य का बन्ध हो। मन, वचन और काय कर्म का आस्रव करने में हेतु हैं, इनकी शुभ प्रवृत्ति रहने ने शुभास्रव होता है। जिस पुण्य के फल को भोगते हुए भी पुण्यास्रव होता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य माना जाता है। ऐसा जीव वर्त्तमान और भविष्य दोनों को ही उज्वल बनाता है।

वर्त्तमान में पुण्य के फल का अनुभव करते हुए जो व्यक्ति पाप करने के लिये उतारु हो जाता है। जो सम्पत्तिशाली और अन्य प्रकार के साधनों से सम्पन्न होकर भी आगामी की कुछ भी चिन्ता नहीं करता है, वर्त्तमान में सब प्रकार के सुखों को प्राप्त

होता हुआ भी पापबन्ध की ओर प्रवृत्ति करता है, वह जीव धूर्त और मूर्ख माना जाता है। सुख-साधनों से फूलकर कषायऔर भावनाओं के आवेश में आकर वह निन्द्य मार्ग की ओर जाता है। जीव की इस प्रकार की कुप्रवृत्ति पापानुबन्धी पुण्य कहलाती है अर्थात् ऐसा जीव पुण्य के उदय से प्राप्त सुखों को भोगते हुए पाप का बन्ध करता है। पापास्रव जीव के लिये बन्धनों को दृढ़ करने वाला है, जीव इस आस्रव से जल्द छूट नहीं पाता है। वह कुप्रवृत्तियों में सदा अनुरक्त रहता है।

वर्त्तमान में पाप के फल को भोगते हुए जो जीव सत्कार्यों को करता है। सदाचार में सदा प्रवृत्ति करता है। जो भौतिक संसार को विपत्तियों की खान, मुसीबतों और कठिनाइयों का आगार मानता है, वह व्यक्ति संसार से भयभीत होकर पुण्य कार्य करने की ओर अग्रसर होता है। ऐसा व्यक्ति संसार में रुलाने वाले विषय-कषायों से हट जाता है, उसमें आध्यात्मिक ज्ञान ज्योति आजाती है; जिससे वह पुण्य कार्य करने की ओर प्रवृत्त होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें एवं मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम, क्षमोयशम, या क्षय ऐसे जीव के हो जाता है, जिससे उसके हृदय में करुणा, दया का आविर्भावि हो जाता है। यह

जीव धर्म भावना के कारण अपनी परिणति को सुधारता है। शास्त्राभ्यास द्वारा सच्चे विवेक और कर्त्तव्य कार्य की प्रेरणा प्राप्त कर यह जीव अपना कल्याण कर सकता है।

पाप के फल को प्राप्त कर जो व्यक्ति पुनः पाप पंक में फंसना चाहता है, उसका वह आस्रव पापानुबन्धी पाप कहलाता है। यह आस्रव जीव के लिये नितान्त अहितकर होता है। इससे सर्वदा कर्म कलंक बढ़ता जाता है, और बन्धन इतने कठोर तथा दृढ़ होते जाते हैं जिससे यह जीव अपने स्वरूप से सदा विमुख रहता है। पापानुबन्धी पाप जीव को नरक ले जानेवाला है। तीव्र कषाय, विषयानुरक्ति, पर पदार्थों में आसक्ति पापानुबन्ध के कारण हैं। अतः ज्ञानी जीव को सर्दा पुण्यानुबन्धी पाप और पापानुबन्धी पाप ये दोनों अशुभास्रव त्याज्य हैं। कल्याणेच्छुक को इन दोनों आस्रवों का त्याग करना आवश्यक है।

अघ पुण्यंगळ निष्टमेंदु बळिकं लेसेंदेनेंकेंदोडं-
गघटंबोक्के मनं सुधर्म के पुगल्कुमञ्राद पापं क्रमं ॥
लघुवक्कु सुकृतं क्रमंबिडिदु भोगप्राप्तियिं तिदु मू-
र्ति घनंबोल्वयलागि मुक्तिवडेगुं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पहले पाप और पुण्य को अनिष्ट कहा गया है, फिर उन्हें इष्ट भी कहा गया है; क्योंकि शरीर में प्रवेश करने से मन को एक श्रेष्ठ धर्म

की प्राप्ति होती है। पाप क्रम से कम होता जाता है, पुण्य भी क्रम से, भोग की समाप्ति के पश्चात् क्षीण हो जाता है। शरीर भी जब बादल की तरह नष्ट हो जाता है तब जीव मोक्ष को प्राप्त होता है ॥७१॥

विवेचन— पुण्य और पाप दोनों ही बन्ध के कारण होने से अशुभ कहे गये हैं। सांसारिक पर्याय की दृष्टि से पुण्य बन्ध जीवों के लिये सुखकारक है और पाप बन्ध दुःखकारक। शुद्ध निश्चयनय के समान व्यवहारनय की दृष्टि से भी आत्मा को शुभाशुभ अपरिणमन रूप माना जाय तो संसार पर्याय का अभाव हो जायगा, अतः पुण्य-पाप भी दृष्टि कोण के भेद से इष्टा-निष्ट रूप हैं। इन्हें सर्वथा त्याज्य नहीं मान सकते हैं। परिणमन शील आत्मा में इनका होना संसारावस्था में अनिवार्य सा है।

जब आत्मा में तीव्र राग उत्पन्न होता है, कषायों की वृद्धि होती जाती है तो अशुभ परिणमन और मन्द कषाय या मन्दराग के कारण परिणमन होने से शुभ--पुण्य प्रवृत्ति रूप परिणमन होता है और यह आत्मा अपने कल्याण की ओर अग्रसर होने लगता है। प्रत्येक द्रव्य का यह स्वभाव है कि एक समय में एक ही पर्याय होती है, अतःशुभ और अशुभ ये दो पर्यायें एक साथ नहीं हो सकती हैं। संसारावस्था में अशुद्ध परिणमन होने के कारण प्रायः अशुभ रूप ही प्रवृत्ति होती है। जो जीव अपने भीतर

विवेक उत्पन्न कर लेते हैं, जिनमें भेदविज्ञान की दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, वे संसार के पदार्थों को क्षणविध्वंसी देखते हैं। उन्हें आत्मा, शरीर तथा इस भव के कुटुम्बियों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है, संसार के भौतिक पदार्थों का प्रलोभन उन्हें अपनी ओर नहीं खींचने पाता है। वे समझते हैं—

अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदी वेगोपमं यौवनं ।
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपम जीवितम् ॥
भोगाःस्वप्नसमास्तृणाग्नि सदृशं पुत्रेष्टभार्यादिकं ।
सर्वञ्च क्षणिकं न शाश्वतमहो त्यक्तञ्च तस्मान्मया ॥

अर्थ— धन पैर की धूलि के समान, यौवन पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान, मानुष्य जल की बून्द के समान चंचल और जीवन फेन के समान अस्थिर हैं। भोग स्वप्न के समान निस्सार और पुत्र एवं प्रिय स्त्री आदि तृणाग्नि के समान क्षण नश्वर हैं।

शरीर रोग से आक्रान्त है और यौवन जरा से। ऐश्वर्य के साथ विनाश और जीवन के साथ मरण लगा है अतः हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन, परिग्रह धारण महान् पाप हैं। इनका यथाशक्ति त्याग कर आत्मकल्याण करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। विषय सेवन और पापों को करने की ओर मनुष्य की

स्वाभाविक रुचि होती है। शुभ कार्यों की ओर बल पूर्वक प्रेरणा देने पर भी मन की प्रवृत्ति नहीं होती है। मानव मन की कुछ ऐसी कमजोरी है कि वह स्वतः ही पापों की ओर जाता है। पुण्य कार्यों में लगाने पर भी नहीं लगता है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि पाप करना मनुष्य का स्वभाव नहीं है। मनुष्य झूठ बोलने से हिचकिचाता है, प्रारम्भ में प्रथम बार झूठ बोलने पर उसका आत्मा विद्रोह करता है तथा उसे धिक्कारता है। इसी प्रकार कोई भी अनैतिक कार्य करने पर आत्मा विद्रोह करता है और अनैतिक कार्य से विरत रखने की प्रेरणा देता है। परन्तु जब मनुष्य की आदतें पक जाती हैं, बार-बार वह निन्द्य कृत्य करने लगता है, तो उसका अन्तरात्मा भी उसमे सहमत हो जाता है। अतएव यह सुनिश्चित है कि आरम्भ में मनुष्य पाप करने से डरता है, पुण्य कार्यों की ओर ही उसकी प्रवृत्ति होती है। यदि जीवरनाम्भ के प्रथम क्षण से ही मनुष्य अपने को सम्हाल कर रखे तो उसकी प्रवृत्ति पाप में कभी नहीं हो सकती है।

पडियें जीवदयामतं परमधर्मं तन्मतंबोर्दिं मुं-
गडे निर्गृंथकर्कसंदं यति सूर्यवोल्प वांभोधियं ॥
कडुवेगं परिलंघिपं सुकृत कद्‌गार्हस्थ्यनुं धर्मवा-।
पडगिं मेल्लेने दांटदे इरनला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीवदया मत के सदृश दूसरा कोई धर्म नहीं है। यह सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। इस धर्म के अनुसार चलकर कालान्तर में निर्ग्रन्थ रथ का अवलम्बन करने वाला यति, सूर्य के समान, संसाररूपी समुद्र को अति शीघ्रता से पार कर जाता है। पुण्य करने वाला तथा गृहस्थ धर्म का आचरण करने वाला गृहस्थ क्या उस धर्मरूपी जहाज से धीरे धीरे पार नहीं होगा ? अभिप्राय यह है कि मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म दोनों जीव का कल्याण करनेवाले हैं। ॥४२॥

विवेचन--- व्यवहार में धर्म का लक्षण जीव रक्षा बताया है, इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। जीवों की रक्षा करने से सभी प्रकार के पाप रुक जाते हैं। दया के समान कोई भी धर्म नहीं है, दया ही धर्म का स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर विचारे तो उसे जीव हिंसा में बड़े से बड़ा पाप मालूम होगा। जिस प्रकार हमें अपना आत्मा प्रिय है, उसी प्रकार अन्य लोगों या जीवों को भी; अतः जो आचार हमें अप्रिय हैं; अन्य के साथ भी उनका प्रयोग हमें कभी नहीं करना चाहिये। समस्त परिस्थितियों में अपने को देखने से कभी पाप नहीं होता है। जहाँ तक हम में अहंकार और ममकार लगे रहते हैं, वहीं तक हमें विषमता दिखलाई पड़ती है। इन दोनों विकारों के दूर हो जाने पर

आत्मा में इतनी शुद्धि आजाती है जिससे किसी भी प्रकार का पाप मनुष्य नहीं करता है। दया और श्रद्धा से बुद्धि की जाग्रति हो जाती है।

दया के आठ भेद हैं—द्रव्य-दया, भाव-दया, स्वदया, पर-दया, स्वरूप-दया, अनुबन्ध-दया, व्यवहार-दया और निश्चय-दया। समस्त प्राणियों को अपने समान समझना, उनके साथ सर्वदा अहिंसक व्यवहार करना, प्रत्येक कार्य को यत्नपूर्वक करना जीवों की रक्षा करना तथा अन्य के सुख-स्वार्थों का पूरा ध्यान रखना द्रव्य-दया है। अन्य जीवों को बुरे कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना भावदया है। अपने आप की आलोचना करना कि यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व से ग्रस्त है,सम्यग्दर्शन इसे प्राप्त नहीं हुआ है। जिनाज्ञा का यह पालन नहीं कर रहा है यह निरन्तर अपने कर्म बन्धन को दृढ़ कर रहा है अतएव धर्म धारण करना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन धारण किये बिना इसका उद्धार नहीं हो सकता है, यही इसे संसार सागर से पार उतारनेवाला है, इस प्रकार चिन्तन कर धर्म में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना स्वदया है। जीव इस प्रकार के विचारों द्वारा अपने ऊपर स्वयं दया करता है तथा अपने कल्याण को प्राप्त करता है। यह दया स्वोत्थान के लिये आवश्यक है, इसके

धारण करने से अन्य जीवो के ऊपर तो स्वतः दयामय परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। वर्त्तमान में हम अपने ऊपर बड़े निर्दय हो रहे हैं, अपने उद्धार या वास्तविक कल्याणकी ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं। विषय-कषाय, जोकि आत्मा के विकृत रूप है, हम इन्हें अपना मानने लगे हैं।

छःकाय के जीवों की रक्षा करना पर-दया है। सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण आगया है उसके दूर करने का उपाय विचारना स्वरूप दया है। अपने मित्रों, शिष्यों या अन्य इसी प्रकार के अशिक्षितों को उनके हित की प्रेरणा से उपदेश देना तथा कुमार्ग से उन्हें सुमार्ग में लाना अनुबन्ध दया है। उपयोग पूर्वक और विधि पूर्वक दया पालना व्यवहार दया है। इस दया का पालन तभी संभव है जब व्यक्ति प्रत्येक कार्य में सावधानी रखे और अन्य जीवों की सुख-सुविधाओं का पूरा पूरा ध्यान रखे। शुद्ध उपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग का होना निश्चय दया है। यह दया ही धर्म का अन्तिम रूप है अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों से उपयोग हटाकर एकाग्र और अभेद रूप से आत्मा में लीन होना, निर्विकल्पक समाधि में स्थिर होजाना, पर पदार्थों से बिल्कुल पृथक् हो जाना निश्चय दया है। इस निश्चय

दया के धारण करने से जीव संसार समुद्र से पार हो जाता है, निर्वाण लाभ करने में उसे बिलम्ब नहीं होता।

तनुवं संघद सेवेयोळ्मनमनात्म ध्यानद-भ्यासदोळ्।
धनमं दानसुपूजे योळ्दि नमनर्हद्धर्म कार्य प्रव- ॥
र्तनेयोळ्पर्ववनोल्दु नोंपिगळोळिदायुष्यमं मोक्षचिं-
तनेयोळतीर्चुव सद्गृहस्थननघं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर को मुनी, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ की सेवा में लगानेवाला; मन को ध्यान के अभ्यास में, भगवान की स्तुति में, उनके गुणानुवाद में लगाने वाला; द्रव्य को जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा में, जिनालय बनाने में, जीर्णोद्धार करने में, शास्त्र लेखन में, तीर्थ क्षेत्र पूजा आदि में खर्च करने वाला; दिन को जैन धर्म के प्रचार कार्य में प्रवर्तन, मध्यान्ह में प्रेम पूर्वक पर्व तिथि अष्टमी, चतुर्दशी व्रत नियम इत्यादि में बिताने वाला; बची हुई आयु में मोक्ष की चिन्ता में समय व्यतीत करने वाला सद् गृहस्थ पाप से रहित होता है ॥४३॥

विवेचन— जिस प्रकार दिनकर के बिना दिन, शशि बिना शर्वरी, रस बिना कविता, जल बिना नदी, पति बिना स्त्री, आजीविका बिना जीवन, और लवण बिना भोजन एवं गन्ध बिना पुष्प साग्हीन प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार बिना धर्म धारण किये यह

मनुष्य जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। जो गृहस्थ धर्म पूर्वक अपना जीवन यापन करता है, वह सहज ही कुछ समय के उपरान्त निर्वाण लाभ कर लेता है।

परमपद प्राप्ति के दो मार्ग हैं—कठिन, किन्तु जल्द पहुँचाने वाला और सहज, पर देर में पहुँचाने वाला। प्रथम मार्ग का नाम त्याग है अर्थात् जब मनुष्य संसार के समस्त पदार्थों से मोह-ममत्व त्याग कर आत्म चिन्तन के लिये अरण्यवास स्वीकार कर लेता है तथा इन्द्रियाँ और मन को अपने आधीन कर अपने आत्म स्वरूप में रमण करने लगता है तो यह त्याग मार्ग माना जाता है। यह मार्ग सब किसी के लिये सुलभ नहीं, वह जल्द निर्वाण को प्राप्त कराता है, पर है कांटों का। परन्तु इतना सुनिश्चित है कि इस मार्ग से परम पद की उपलब्धि जल्द हो जाती है, यह निकट का मार्ग है। इसमें भय, आशंकाएँ, पतन के कारण आदि सर्वत्र वर्तमान हैं। अतएव उपर्युक्त मार्ग सन्यासियों के लिये ही ग्राह्य हो सकता है, अतः इसका नाम मुनिधर्म कहना अधिक उपयुक्त है।

दूसरा मार्ग सरल है, पर है दूरवर्ती। इसके द्वारा रास्ता तय करने में बहुत समय लगता है। परन्तु इस रास्ते में किसी भी प्रकार का भय नहीं है, यह फूलों का रास्ता है। कोई भी

इसका अवलम्बन कर अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है। इस मार्ग का अन्य नाम गृहस्थ धर्म है। गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ कुछ समय में परमपद का अधिकारी बन जा सकता है। आसक्तिभाव से रहित होकर कर्म करता हुआ गृहस्थ भरत महाराज के समान घर छोड़ने के एक क्षण के उपरान्त ही केवल ज्ञान प्राप्त करलेता है। गृहस्थ धर्म का विशेष स्वरूप तो प्रसंगवश आगे लिखा जायगा; पर सामान्यतः देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट् कर्मों को गृहस्थ को अवश्य करना चाहिये। जो गृहस्थ अपने शरीर को सदा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संग की सेवा में लगाता है अर्थात् जो सतत अपने शरीर द्वारा गुरुसेवा करता रहता है, साधर्मी भाइयों की सहायता करता है, विपत्ति के समय उनकी संकट से रक्षा करता है, वह अपने शरीर को सार्थक करता है। गृहस्थ का परोपकार करना, दूसरों को दुःख में सहायता देना प्रमुख व्यवहार धर्म है। इस शरीर द्वारा भगवान की पूजन करना, वचन द्वारा भगवान के गुणों का वर्णन करना, उनके स्वरूप का कीर्त्तन करना तथा मन को कुछ क्षणों के लिये संसार के विषयों से हटाकर आत्म-ध्यान में लगाना, स्व स्वरूप का चिन्तन करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। उसे अपने धन को

मन्दिर बनाने में मूर्तियों के निर्माण तथा प्रतिष्ठा में, जीर्णोद्धार में, गरीब एवं अनाथों के दुःख को दूर करने में, शास्त्र छपवाने में, धर्म के प्रचार के अन्य कार्यों में खर्च करना चाहिये। यह धन किसी के साथ नहीं जायगा, यहीं रहनेवाला है अतः इसका सदुपयोग करना परम आवश्यक है। जो गृहस्थ अपने समय को धर्म सेवन, आत्मचिन्तन, परोपकार, शास्त्राभ्यास में व्यतीत करता है, वह धन्य है।

पुत्रोत्साह दोळक्षरादि सकल प्रारंभदोळ् व्याधियोळ्।
यात्रासं-भ्रम दोळ्प्रवेशदेडेयोळ्वैवाहदोळ्नोविनोळ्॥
छत्रांदोळ गृहादिसिद्धिगळो-ळर्हत्पूजेयुं संघ स-
त्पात्राराधनेयुत्त-मात्तमवला रत्नाकराधीश्वरा !॥४४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पुत्र के जन्मोत्सव में, विद्या अभ्यास के समय में, रोग में, यात्रा के समय में, गृह प्रवेश के समय में, विवाह के समय में, बाधा उत्पन्न होने के समय में, छत्र झूलना, एवं अन्य उत्सव के समय में चतुर्विध संघ की सेवा, अरहंत भगवान की पूजा, सत्पात्र की सेवा क्या व्यवहार धर्मों में श्रेष्ठ नहीं है ? ॥४४॥

विवेचन— जबतक यह जीव अपने निजानन्द, निराकुल और शान्त स्वरूप को नहीं पहचानता है, तब तक यह अस्थि,

मान्स और मल-मूत्र से भरे अपावन घृणित स्त्री आदि के शरीर से अनुराग करता है। पञ्चेन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है। परिग्रह इसे सभी प्रकार का सुखकारक प्रतीत होता है; किन्तु दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से इसके चित्त में विवेक जाग्रत हो जाता है और यह ज्ञायक स्वरूप होकर अपने निजानन्दमय सुधा रस का पान करने लगता है।

पुत्र, स्त्री,कुटुम्ब, धन आदि से ममत्व इस जीव का तभी तक रहता है, जबतक विरक्ति नहीं होती। यह जीव इन नश्वर पदार्थों को अपना समझकर इनसे राग-विराग करता है तथा इनके अभाव और सद्भाव में शोक और हर्ष ग्रहण करता है। गृहस्थ यदि अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन करता रहे तो उसे पर पदार्थों से विरक्ति कुछ समय में हो जाती है। यद्यपि गृहस्थ धर्म निश्चय धर्म से पृथक् है, फिर भी उसके आचरण से निश्चय धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। भगवत् पूजा, भगवान के गुणों का कीर्त्तन और उनके नाम का स्मरण ऐसी बातें हैं, जिनसे यह जीव अपना उद्धार कर सकता है। प्रभु-भक्ति सराग होते हुए भी कर्मबन्धन तोड़ने में सहायक है, परम्परा से जीव में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न हो जाती है जिससे वह कर्म कालिमा को सहज में ही दूर कर सकता है।

प्रत्येक लौकिक कार्य के प्रारम्भ में भगवान का स्मरण, उनका पूजन, अर्चन और गुणानुवाद करना श्रेष्ठ है। इन कार्यों के विधि-पूर्वक करने से श्रावक के मन को बल मिलता है, जिससे वे कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाते हैं तथा धर्म का आराधन भी होता है। कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति को कभी भी धर्म को नहीं भूलना चाहिये; धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का समान महत्व है, जो गृहस्थ इन तीनों का संतुलन नहीं रखता है, इनमें से किसी एक को विशेषता देता है तथा शेष दो को गौण कर देता है वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। जिस समय अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन किया जाय उस समय धर्म को नहीं भूलना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति लौकिक कार्यों के अवसर पर धर्म को भूल जाते हैं, उन्हें संकट के समय ही धर्म याद आता है, पर ऐसा करना ठीक नहीं हैं। धर्म का सेवन सदैव करना चाहिये। दया, दान, पूजन, सेवा, परोपकार, भक्ति इत्यादि कार्य प्रत्येक के लिये करणीय हैं, इनके किये बिना मानवता का पालन नहीं हो सकता है।

यदि संक्षेप में धर्म का विश्लेषण किया जाय तो मानवता से बढ़कर कोई धर्म समाज के विकाश के लिये हितकर नहीं हो सकता है। समाज में सुख-शान्ति स्थापन के लिये प्रधानतः

अहिंसा का वर्ताव करना आवश्यक है। अहिंसक हुए बिना समाज में संतुलन नहीं रह सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जब अपने जीवन में अहिंसा को उतार लेता है, विकार और कषायें उससे दूर हो जाती हैं तब वह समाज की ऐसी इकाई बन जाता है जिससे उसका तथा उसके वर्ग का पूर्ण विकास होता है। असत्य भाषण, स्तेय, कुशील और परिग्रह का परित्याग भी अपने नैतिक विकास तथा मानव समाज के हित के लिये करना चाहिये। जबतक कोई भी व्यक्ति स्वार्थ के सीमित दायरे में बन्द रहता है, अपना व समाज का कल्याण नहीं कर पाता। अतः वैयक्तिक तथा समाजिक सुधार के लिये धर्म का पालन करना आवश्यक है।

आहारभय वैद्य शास्त्रमेने चातुर्दानदिं सौख्यसं-
दोहं श्रोशिले लेप्य कांस्य रजताष्टापाद रत्नंगाळ॥
देहारं गेयलंग सौंदरवलं तच्चैत्यगेहप्रति-
ष्ठाहर्षं गेये मुक्तिसंपद्वला रत्नाकराधीश्वरा !॥४५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आहार, अभय, भेषज और शास्त्र इन चार प्रकार के दान समूह से सुख, शोभायुक्त पत्थर, सोना, चाँदी और रत्न आदि के द्वारा मंदिर बनाने से शारीरिक सौन्दर्य और शक्ति की प्राप्ति तथा इस मंदिर में संतोष पूर्वक जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा कराने से क्या मोक्षरूपी श्रेष्ठ सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होगी ?॥४५॥

विवेचन— गृहस्थ को अपनी अर्जित सम्पत्ति में से प्रतिदिन दान देना आवश्यक है। जो गृहस्थ दान नहीं देता है, पूजा-प्रतिष्ठा में सम्पत्ति खर्च नहीं करता है, जिन मन्दिर बनाने में धन व्यय नहीं करता है, उसकी सम्पत्ति निरर्थक है। धन की सार्थकता धर्मोउन्नति के लिए धन व्यय करने में ही है। धर्म में खर्च करने से धन बढ़ता है, घटता नहीं। जो व्यक्ति हाथ बांधकर कंजूसी से धार्मिक कार्यों में धन नहीं लगाता है, धन को जोड़-जोड़ कर रखता रहता है, उस व्यक्ति की गति अच्छी नहीं होती है। धन के ममत्व के कारण वह मर कर तिर्यञ्च गति में जन्म लेता है। इस जन्म में भी उसको सुख नहीं मिल सकता है; क्योंकि वास्तविक सुख त्याग में है, भोग में नहीं।

अपना उदर-पोषण तो शूकर-कूकर भी करते हैं। यदि मनुष्य जन्म पाकर भी हम अपने ही पेट के भरने में लगे रहे तो हम भी शूकर-कूकर के तुल्य ही हो जायेंगे। जो केवल अपना पेट भरने के लिये जीवित है, जिसके हाथ से दान-पुण्य के कार्य कभी नहीं होते हैं, जो मानव सेवा में कुछ भी खर्च नहीं करता है, दिन रात जिसकी तृष्णा धन एकत्रित करने के लिये बढ़ती जाती है, ऐसे व्यक्ति की लाश को कुत्ते भी नहीं खाते। अभिप्राय यह है कि पुण्योदय से धन प्राप्त कर उसका दान-पुण्य के कार्यों

में सदुपयोग करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। प्रतिदिन जितनी आमदनी मनुष्य की हो उसका कम से कम दशांश अवश्य दान में खर्च करना चाहिये। दान करने से धन से मोह-बुद्धि दूर होती है, आत्म-बुद्धि जाग्रत हो जाती है। अतः परोपकार, सेवा और धर्मप्रभावना के कार्यों में धन खर्च करना परम आवश्यक है। इस जीवन की सार्थकता अन्य लोगों के उपकार या भलाई में लगाने से ही हो सकती है।

दान कभी भी कीर्त्ति-लिप्सा या मान कषाय को पुष्ट करने के लिये नहीं देना चाहिये। जो व्यक्ति मान कषाय के कारण रत्नत्रयात्मक धर्म, निर्दोष देव, गुरु, स्वजन, परिजन आदि का अपमान करता है, तथा सम्मान प्राप्ति की लालसा से दान देता है वह व्यक्ति स्वयं अपना पुण्य खो देता है। तीव्र कर्मों का बन्धक होकर संसार की वृद्धि करता है। जैसे घी का विधिपूर्वक उपयोग करने से स्वास्थ्य लाभ होता है, समस्त रोग दूर हो जाते हैं और दूषित विधि से सेवन करने पर रोग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार धन का भाव-शुद्धि पूर्वक मन्दकषाय होकर उपयोग करने से पुण्य लाभ होता है, ममत्व दूर होता है और परिणामों में शुद्धि आती है; जिससे कर्म परम्परा हल्की हो जाती है; तथा कषाय पुष्ट करने के लिये कुत्सित भावनाओं के कारण धन का उपयोग करने से

पाप बन्ध होता है या अत्यल्प पुण्य का बन्ध होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सद्भावना पूर्वक बिना किसी आकांक्षा के दान-पुण्य के कार्य करने चाहिये। इन कार्यों के करने से व्यक्ति को शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है।

भाव पूर्वक दान देने से आत्मा में रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है, तीव्र जठराग्नि जैसे आहार को पचा देती है, उसी प्रकार भव-भव में अर्जित कर्म समूह को तथा शरीर के रोगादि को भाव सहित दिया गया दान नष्ट कर देता है। भाव सहित दान देनेवाला कभी दरिद्र, दीन, रोगी, मूर्ख, दुःखी नहीं हो सकता है। अतः आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान और अभय दान इन चारों दानों को प्रति दिन करना चाहिये।

पिडिद्दोल्दर्चिसे नोनें दानवलंपिं माडे तत्पुण्यदिं।
कुडुगं निम्मय धर्मर्मोदे नृपरोळ्पं भोगभूलक्ष्मियं-॥
विडुगण्णौसिरियं बळिक्के सुकृतं भोगंगळोळ्तिदोंडं।
कुडुगुं मुक्तियनितंदाकुंडुवरो रत्नाकराधीश्वरा !॥४६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

प्रेम पूर्वक पूजा करने से, व्रत करने से और संतोष पूर्वक दान देने से जो पुण्य होता है वह राज संपत्ति, देव संपत्ति और भोग भूमि को देने-

बन्ध होता है। इसके पश्चात् शेष पुण्य भोगादि के समाप्त होने पर भी मोक्ष प्रदान करने में सहायक होता है। ॥४६॥

विवेचन— शुद्धोपयोग की प्राप्ति होना इस पंचम काल में सभी किसीके लिये संभव नहीं। यह उपयोग कषायों के अभाव से प्राप्त होता है तथ आत्मा परपदार्थों से बिल्कुल पृथक् प्रतीत हो जाती है। आत्मानुभूति की पराकाष्ठा होने पर ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शुभोपयोग प्राप्त करना सहज है, यह कषायों की मन्दता से प्राप्त होता है। सच्चे देव की श्रद्धापूर्वक भक्ति करना तथा उनकी पूजन करना, दान देना, उपवास करना आदि कार्य कषायों के मन्द करने के साधन हैं। इन कार्यों से क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का उपशम या क्षयोपशम होता है।

जिसमें क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि अठारह दोष नहीं हों, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अतीन्द्रिय सुख का धारी हो, ऐसा अर्हन्त भगवान तथा सर्वकर्म रहित सिद्धभगवान् सच्चे देव हैं। इनके गुणों में प्रीति बढ़ाते हुए मन से, वचन से तथा काय से पूजा करना शुभोपयोग है। भगवान की मूर्ति द्वारा भी वैसी ही भक्ति हो सकती है, जैसी साक्षात् समवशरण में स्थित अर्हन्त भगवान् की भक्ति की जाती है। पूजा के दो भेद हैं—द्रव्य पूजा और

भाव-पूजा। पूज्य या आराध्य के गुणों में तल्लीन होना भाव-पूजा और आराध्य का गुणानुवाद करना, नमस्कार करना और अष्टद्रव्य की भेंट चढ़ाना द्रव्य-पूजा है। द्रव्य-पूजा निमित्त या साधन है और भाव-पूजा साक्षात्-पूजा या साध्य है। भावों की निर्मलता के बिना द्रव्य-पूजा कार्यकारी नहीं होती है। स्वामी समन्तभद्र ने भक्ति करते हुए बताया है—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥

अर्थ—संसार के द्रष्टा, साधुओं द्वारा वन्दनीय, केवलज्ञान के धारी, परमौदारिक शरीर के धारी, कर्मकलंक से रहित निरंजनरूप, कृतकृत्य, श्री ऋषभनाथ भगवान् मेरे चित्त को पवित्र करें। भावों की निर्मलता से ही शुभ राग होता है, इसीसे महान् पुण्य का बन्ध होता है और कर्मों की निर्जरा भी होती है इस प्रकार, भगवान के गुणों में तल्लीन होने से कषाय भाव मन्द होते हैं और शुभोपयोग की प्राप्ति होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुभोपयोग की प्राप्ति का वर्णन करते हुए बताया है—

देवदजादिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि सुसीलेसु
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥

*यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थ-
नुरूपां चाशुभोपयोगभूमिकां अतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादान-
शीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य
साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामाधिरूढोऽभिलप्येत ॥*

अर्थ-- यह आत्मा जब दुःखरूप अशुभोपयोग—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, सप्तव्यसन, परिग्रह, आदि का त्याग कर शुभोपयोग की ओर प्रवृत्त होता है—भगवत् पूजन, गुरु सेवा, दान, व्रत, उपवास, सप्तशील आदि को धारण करता है तो इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति इसे होती है। वस्तुतः आत्मा के लिये शुद्धोपयोग ही उपयोगी है, पर जिनकी साधना प्रारम्भिक है, उनके लिये शुभोपयोग भी ग्राह्य है। अतः प्रत्येक गृहस्थ को देवपूजा, गुरुभक्ति, संयम, व्रत, उपवास आदि कार्य अवश्य करने चाहिये। इन कार्यों के करने से देव, अहमिन्द्र, इन्द्र आदि पदों की प्राप्ति होती है, पश्चात् परम्परा से परमपद भी मिलता है।

पुण्यंगेय्यदे पूर्वदोळ्वरिदे तानीगळमनं नोडेला- ।
वण्यक्कोभरणक्के भोगकेनसुंरागक्के चागक्के ता- ॥
रुण्यक्कागद लद्दिमगं वयसि वायं विट्टु कांन्तामहा-
रण्यं बोकककटेके चिंतिसुवदो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व में स्वयं पुण्य कार्य को न करके, व्यर्थ ही दूसरे के रूप, शृङ्गार, ऐश्वर्य, वैभव, भोग, अंगलेपन, सुगंधित वस्तुओं के उपयोग को, दान को, यौवनावस्था जैसी श्रेष्ठ सम्पत्ति को देखकर ईर्ष्या वश मुंह खोलकर आशारूपी महा जंगल में प्रवेश करके चिल्लाने से क्या होगा ? ॥४७॥

विवेचन--- संसार में सुख सम्पत्ति की प्राप्ति पुण्योदय के बिना नहीं हो सकती है। जिसने जीवन में दान, पुण्य, सेवा, पूजा, गुरुभक्ति नहीं की है उसे ऐश्वर्य की सामग्री कैसे मिलेगी ? वह दूसरों की विभूति को देखकर क्यों जलता है ? क्योंकि बिना पूर्व पुण्य के सुख-सामग्री नहीं मिल सकती है। देवपूजा गुरु-भक्ति, पात्रदान आदि पुण्य के कार्य हैं। जो व्यक्ति इन कार्यों को सदा करता रहता है, उसके ऊपर विपत्ति नहीं आती है, वह सर्वदा आनन्द मग्न रहता है। केवल जिनेन्द्रदेव की पूजा का ही इतना बड़ा माहात्म्य है कि भाव सहित पूजा करनेवाले को सारी सुख-सामग्रियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। कविवर बनारसीदास ने पूजन का माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है:—

लोपै दुरित हरै दुख संकट; आवै रोग रहित नित देह।
पुण्य भंडार भरै जश प्रगटै;मुकति पन्थसौं करै सनेह ॥

रचै सुहाग देय शोभा जग; परभव पहुँचावत सुरगेह ।
कुगतिबंध दहमलहि बनारसि; वीतराग पूजा फल येह ॥
देवलोक ताको घर आंगन; राजरिद्धि सेवैं तसु पाय ।
ताको तन सौभाग्य आदिगुन; केलि विलास करै नित आय ॥
सो नर त्वरित तरै भवसागर; निर्मलहोय मोक्ष पदपाय ।
द्रव्य भाव विधि सहित बनारसि; जो जिनवर पूजै मनलाय ॥

अर्थ— जिनेन्द्र भगवान की पूजा, पाप, दुःख, संकट, रोग आदिको दूर कर देती है। प्रभुभक्ति से मन की विशुद्धि होती है, जिससे पुण्य का बन्ध होता है। पूजा से संसार में यश, धन, वैभव आदि की प्राप्ति होती है। जीव निर्वाण मार्ग से स्नेह करने लगता है। यह सौभाग्य, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि को प्रदान करती है। देव गति का बन्ध पूजा करने से होता है। नरक, तिर्यञ्च गति भगवान के पूजक को कभी नहीं मिल सकती हैं। भक्ति सहित पूजा करनेवाले को राज्य, ऋद्धि, स्वर्गलोक आदि सुखों की प्राप्ति होती है। पूजक शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो जाता है, कर्ममल के दूर हो जाने से स्वच्छ हो जाता है। पूजा सर्वदा भाव सहित करनी चाहिये। मन के चंचल होने पर पूजा का फल यथार्थ नहीं मिलता है। अतः देवपूजा, गुरु-भक्ति, संयम,

दान, स्वाध्याय और तप इन गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्यों को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। इनके किये बिना गृहस्थ का जीवन निरर्थक ही रहता है।

गृहस्थ पूजा, दान आदि के द्वारा इस लोक में भी सुख भोगता है। उसके चरणों में ऐहिक विभूतियाँ पड़ी रहती हैं। संसार की ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं, जो उसे प्राप्त न हो, वह संसार का शिरोमणि होकर रहता है। क्योंकि शुद्धात्माओं की प्रेरणा पाकर उन्हीं के समान साधक आत्मविकास करने के लिये अग्रसर होता है। जैनधर्म की उपासना साधना-मय है, दीनता भरी याचना या खुशामद नहीं है। शुद्धात्मानुभूति के गौरव से ओत-प्रोत है; दीनता, क्षुद्रता, स्वार्थपरता, को जैन-पूजा में स्थान नहीं। भगवत् भक्ति भावों को विशुद्ध करती है, आत्मिक शक्तियों का विकास करती हैं, कषायें मन्द होती हैं जिससे पुण्यानुबन्ध होने के कारण सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जिनेन्द्र पूजन के समान ही गृहस्थ को दान, तप और गुरुभक्ति भी करनी चाहिये; क्योंकि इन कार्यों से भी महान् पुण्य का लाभ होता है। आत्मा में विशुद्धि आती है और कर्म क्षय करने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को जिनेन्द्र पूजन, गुरुभक्ति और पात्रदान प्रति दिन करना आवश्यक है।

आरित्तार्केळेदर्दरिद्र मनदा वंगावनेनोंदु स-
त्कारं गेय्यदे भाग्यमं किडिसिदं पूर्वार्जितप्राप्तियिं ॥
दारिद्र्यं धनमेंबेरळसमनिकुं मत्तेके धीरत्वमं ।
दूरं माडिमनंसदा कुदिवदो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

किसने मनुष्य को दरिद्रता दी तथा उसे आदरहीन बनाते हुए किसने उसके ऐश्वर्य का नाश किया ? तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म में किये हुए पाप-पुण्य से ही दरिद्रता तथा सम्पत्ति मिलती है इसका भाग्य-विधाता अन्य कोई नहीं है । तब फिर, मनुष्य धैर्य का परित्याग कर मन में शोक क्यों करता है ? ॥४८॥

विवेचन— जैनागम में कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता जीव स्वयं ही माना गया है । प्रत्येक जीव स्वतः अपने भाग्य का विधायक है, कोई परोक्ष सत्ता ईश्वरादि उसके भाग्य का निर्माण नहीं करती है । अपने शुभाशुभ के कारण स्वयं जीव को सुखी और दुःखी होना पड़ता है । श्री नेमिचन्द्राचार्य ने जीव के कर्त्ता और भोक्तापने का वर्णन करते हुए बताया है--

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदनकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥
ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥

अर्थ— व्यवहारनय की अपेक्षा जीव पुद्गल-कर्मों का कर्त्ता है। यह मन, वचन और शरीर के व्यापार रूप क्रिया से रहित जो निज शुद्धात्म तत्व की भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का एवं औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरों और आहार आदि छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिण्ड रूप नो कर्मों का कर्त्ता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यह घट, पट, महल, रोटी, पुस्तक आदि बाह्य पदार्थों का कर्त्ता है

अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यह जीव राग, द्वेष आदि भाव-कर्मों का कर्त्ता है। ये भाव ही जीव के कर्म बन्ध में कारण होते हैं, इन्हीं के कारण यह जीव इस प्रकार कर्मों को ग्रहण करता है जैसे लोहे के गोले को आग में गर्म करने पर वह चारों-ओर से पानी को ग्रहण करता है, इसी प्रकार यह जीव भी अशुद्ध भावों से विकृत होकर कर्मों को ग्रहण करता है। शुद्ध निश्चय नय से यह जीव मन, वचन और काय की क्रिया से रहित हो कर शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव रूप में परिणमन करता है। इस नय की अपेक्षा यह जीव विकार रहित परम आनन्द स्वरूप है, यह अपने स्वरूप में स्थित सुखामृत का भोक्ता है। अतः जीव अपने कर्मों और स्वभावों का कर्त्ता स्वयं ही है, अन्य कोई

उसके लिये कर्मों का सृजन नहीं करना है तथा इस जीव को भी किसीने नहीं बनाया है, यह अनादिकाल से ऐसा ही है।

कर्मफल का भोगनेवाला भी यही है। इसे कर्मों का फल कोई ईश्वर या अन्य नहीं देता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यह जीव इष्ट तथा अनिष्ट पञ्चेन्द्रियों के विषयों का भोगनेवाला है। यह स्वयं अपने किये हुए कर्मों के कारण ही धनी और दरिद्र होता है, इसको धनी या दरिद्र बनानेवाला अन्य कोई नहीं है। अतः धन के नष्ट होने पर या प्राप्त होने पर हर्ष-विषाद करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह तो कर्मों का ही फल है। जो व्यक्ति दरिद्र होने पर हाय हाय करते हैं, वेदना से अभिभूत होते हैं, उन्हें अधिक कर्म का बन्ध होता है। हाय हाय करने से दरिद्रता दूर नहीं हो सकती है, बल्कि और अशान्ति का अनुभव करना पड़ेगा। धैर्य और सहनशीलता से बढ़कर सुख और शान्ति देनेवाला कोई उपाय नहीं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी बनकर अपना स्वयं विकास करना होगा। जबतक व्यक्ति निराशा में पड़कर स्वावलम्बन को छोड़े रहता है, उन्नति रुकी रहती है। स्वावलम्बन ही आत्मिक विकास के लिये उपादेय है, अतः अपने आचरण को निरन्तर शुद्ध बनाने का यत्न करना चाहिये।

कुरुरायं बहुवित्तमं कुडुवना कर्णंगे मत्ता सहो-
दरर्गा पांडवर्गेनुमं कुडनदें पिंवोळ्विनोळ्कर्णनु- ।
वैरे दारिद्रनेनल्के संदनररे धर्मधराधीशरा ।
दरिदें पापशुभोदयक्रियेयला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४९॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दुर्योधन कर्ण को बहुत द्रव्य देता था पर पाण्डवों को तो कुछ नहीं देता था। फिरभी अंतमें कर्ण दरिद्र बन गया और वे धर्मराज, पृथ्वीपति आदि बन गये। क्या यह पाप-पुण्य का फल नहीं है ? ॥४९॥

विवेचन—— सांसारिक ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति आदि अपने अपने भाग्योदय से प्राप्त होते हैं। किसीके देने-लेने से सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। कोई कितना ही धन क्यों न दे, पुण्योदय के अभाव में वह स्थिर नहीं रह सकता है। जब मनुष्य के पाप का उदय आता है, तो उसकी चिर अर्जित सम्पत्ति देखते देखते विलीन हो जाती है। पुण्योदय होने पर एक दरिद्री भी तत्काल थोड़े ही श्रम से धनी बन जाता है। जीवन भर परिश्रम करने पर भी पुण्योदय के अभाव में धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रायः अनेक बार देखा गया है कि एक मामूली व्यक्ति भी भाग्योदय होने पर पर्याप्त धन प्राप्त कर लेता है। भाग्य की गति विचित्र है, जब अच्छा समय आता है तो शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, जंगल में मंगल होने लगते हैं, कुटुम्बी, रिश्तेदार स्नेह करने

लगते हैं; पर अशुभोदय के आने पर सभी लोग अलग हो जाते हैं; मित्र घृणा करने लगते हैं और धन न मालूम किस रास्ते से निकल जाता है। अतः सुख-दुःख में सर्वदा समता-भाव रखना चाहिये।

जो व्यक्ति इन कार्यों के विचित्र नाटक को समझ जाते हैं, वे दीन-दुःखियों से कभी घृणा नहीं करते उनकी दृष्टि में संसार के सभी प्रकार के चित्र झलकते रहते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि ये संसार के भौतिक सुख क्षणविध्वंसी हैं, इनसे राग-द्वेष करना बड़ी भारी भूल है। जो तुच्छ ऐश्वर्य को पाकर मदोन्मत्त हो जाते हैं, दूसरों को मनुष्य नहीं समझते, उन्हें संसार की वास्तविक दशा पर विचार करना चाहिये। यह झूठा अभिमान है कि मैं किसी व्यक्ति को अमुक पदार्थ दे रहा हूँ; क्योंकि किसी के देने से कोई धनी नहीं हो सकता। कौरवों ने कर्ण को अपरिमित धन दिया, पर क्या उस धन से कर्ण धनी बन-सका ? कौरव पाण्डवों को सदा कष्ट देते रहे; उन्होंने लोभ में आकर अनेक बार पाण्डवों को मारने का भी प्रयत्न किया, पर क्या उनके मारने से या दरिद्र बनाने से पाण्डव मर सके या दरिद्र बन सके। किसीके भाग्य को बदलने की शक्ति किसी में भी नहीं है।

चिरकाल से अर्जित कर्म ही मनुष्यों को अपने उदयकाल में सुख या दुःख दे सकते हैं। किसी मनुष्य की शक्ति नहीं, जो

किसीको सुख या दुःख दे सके । मनुष्य केवल अहंकार भाव में भूलकर अपने को दूसरे के सुख-दुःख का दाता समझ लेता है । वस्तुतः अपने शुभ या अशुभ के उदय बिना कोई किसी को तनिक भी सुख या दुःख नहीं दे सकता है । संसार के सभी प्राणी अपने-अपने उदय के फल को भोग रहे हैं ।

अहंभाव और ममतावश मनुष्य अपने को अन्य का सुख-दुःख दाता या पालक-पोषक समझता है । पर यह सुनिश्चित है कि अपने सदुदय के बिना मुहँ का ग्रास भी पेट में नहीं जा सकता है, उसे भी कुत्ते-बिल्ली छीनकर ले जायँगे । माता-पिता सन्तान का जो भरण-पोषण करते हैं, वह भी सन्तान के शुभोदय के कारण ही । यदी सन्तान का उदय अच्छा नहीं हो तो माता-पिता उस को छोड़ देते हैं और उसका पालन अन्यत्र होता है । अतः अहंकार भाव को त्यागना आवश्यक है । यह ध्रुव सत्य है कि कोई किसी के लिये कुछ नहीं करनेवाला है ।

उपभोगं वरे भोगवैतरे मनोरागंगळिं भोगिपं- ।
तुपसर्गं वरे मेएदरिद्र बडसल्पं तोवमंताळ्दुनि- ॥
म्म पादांभोजयुगं सदा शरणेनुत्तिच्छैसुवंगा गृह
स्यपदं ताने मुनीन्द्र पद्धतियला रत्नाकराधीश्वरा ॥५०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

भोग और उपभोग के प्राप्त होने पर, शरीर में दुःसाध्य रोग उत्पन्न होने पर, और दरिद्रता के आने पर जो गृहस्थ संतोष धारण करके तुम्हारे चरण-कमल की शरण लेता है क्या उस का गार्हस्थ्य जीवन मुनि-श्रेष्ठ मार्ग के तुल्य नहीं है ? ॥५०॥

विवेचन— जो व्यक्ति संसार के समस्त भोगोपभोगों के मिल जाने पर उनमें रत नहीं होता है, भगवान के चरणों का ध्यान करता है, तथा घर-गृहस्थी में रहता हुआ भी ममत्व से अलग रहता है, वह मुनि के तुल्य है। जिस गृहस्थ को संसार की मोह-माया नहीं लगी है, जो संसार को अपना नहीं मानता है, जिसे समता बुद्धि प्राप्त हो गयी है, वह घर में रहता हुआ भी अपना कल्याण कर सकता है। उसके लिये संसार को पार करना असंभव नहीं, वह अपने आत्मविश्वास, सज्ज्ञान और सदाचरण द्वारा संसार को पार कर लेता है। इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर अनादिकाल से चली आयी जन्म-मरण की परम्परा को अवश्य दूर करना चाहिये।

असाध्य रोग होजाने पर जो हाय-हाय करते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं, विलाप करते हैं, वे अपनी जन्म-मरण की परम्परा को और बढ़ाते हैं। वे संक्लेश परिणाम धारण करने के कारण और दृढ़ कर्मबन्धन करते हैं। रोने-चिल्लाने से कष्ट कम नहीं होता

है, बल्कि और बढ़ता चला जाता है । अतः असाध्य रोग या और प्रकार के शारीरिक कष्ट के आने पर धैर्य धारण करना चाहिये। धैर्य धारण करने से आत्मबल की प्राप्ति होती है, जिससे आधा कष्ट ऐसे ही कम हो जाता है । जो व्यक्ति शारीरिक कष्ट के आने पर विचलित नहीं होता, पंचपरमेष्ठी के चरणों का ध्यान करता है, वह अपना कल्याण सहज में कर लेता है ।

दरिद्रता भी मनुष्य की परीक्षा का समय है । जो व्यक्ति दरिद्रता के आने पर घबड़ाते नहीं हैं, सन्तोष धारण करते हैं तथा कर्म की गति को समझ कर जिनेन्द्र प्रभु के चरणों का स्मरण करते हैं, वे अपना उद्धार अवश्य कर लेते हैं धन, विभूति, ऐश्वर्य आदि के द्वारा मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता है । ये भौतिक पदार्थ तो इस जीव के साथ अनादि काल से चले आ रहे हैं, इनसे इसका थोड़ा भी उपकार नहीं हुआ । बल्कि इनकी आसक्ति ने इस जीव को संसार में और ढकेल दिया, जिससे इसे कर्मों की जंजीर को तोड़ने में बिलम्ब हो रहा है । जो व्यक्ति दरिद्रता, शारीरिक कष्ट या वैभव के प्राप्त हो जाने पर इन सब चीजों को अस्थिर समझ कर आत्म चिन्तन में दृढ़ हो जाते हैं, वे मुनि के तुल्य हैं। संसार की ओर आकृष्ट करनेवाले पदार्थ उन्हें कभी भी नहीं लुभा सकते हैं, उनके मन मोहक रूप के रहस्य को

समझ जाते हैं, जिससे उनमें मुनि के समान स्थिरता आजाती है। आत्मज्ञान उनमें प्रकट हो जाता है, जिससे वे पर पदार्थों को अपने से भिन्न समझते हुए अपने स्वरूप में विचरण करते हैं।

जो गृहस्थ उपर्युक्त प्रकार से समता धारण कर लेता है, अपने परिणामों में स्थिर हो जाता है, उसे कल्याण में विलम्ब नहीं होता। महाराज भरत चक्रवर्ती के समान वह घर में अनासक्त भाव से रह कर भी राज-काज सब कुछ करता है, फिर भी उसे केवलज्ञान प्राप्त करने में देरी नहीं होती। उसकी आत्मा इतनी उच्च और पवित्र हो जाती है जितनी एक मुनि की। उसके लिये वन और घर दोनों तुल्य रहते हैं। परिग्रह उसे कभी विचलित नहीं करता है और न परिग्रह की ओर उसकी रुचि ही रहती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा धैर्य धारण कर आत्मचिन्तन की ओर अग्रसर होना चाहिये।